इतस्ततः

जैनेन्द्र कुमार

इतस्ततः

प्रस्तुत लेख हमें जैनेन्द्र जी से अनायास ही प्राप्त हो गया है। धर्मयुग में 'इतस्ततः' शीर्षक से इन लेखों का क्रम आरंभ हुआ तो शुरू में बड़ी ही खलबली मची थी। यहाँ तक कि उसका छपना बंद हो गया। 'शब्द और संस्कृति' उसी स्थिति में लिखा गया था और उपयुक्त समझकर वही पुस्तक के आमुख के रूप में दिया जा रहा है।

—प्रकाशक

शब्द और संस्कृति

बीच में नौ सप्ताह यह स्तम्भ बन्द रहा । उसकी एक कहानी है । सम्पादक ने लिखा––

"इतस्ततः" के कुछ खण्डों में आपने इतने विद्रोही (सामाजिक मान्यताओं के) भावों का प्रतिपादन कर दिया है कि सब मान्यताओं के प्रति श्रद्धालु व्यक्तियों के मन में तीव्र घृणा जाग गई धर्मयुग के लिए। धर्मयुग के पाठकों में अधिकांश व्यक्ति परम्परा प्रेमी हैं । उन्हें आपकी सर्वथा मौलिक स्थापनाएँ अच्छी नहीं लगीं । अतः . . . यही है कि 'इतस्ततः' को कुछ काल के लिए स्थगित कर दें । इन कालमों में जो भी जायगा हमारे परम्परा प्रिय पाठकों की संशयात्मक दृष्टि का शिकार हो जायगा ।

पत्र मिला और धर्मयुग के अगले अंक में इतस्ततः गायब दिखाई दिया ।

मुझे अपने लिखे का समर्थन नहीं करना है । उसमें दोष रहा होगा । निर्दोषता का दावा यहाँ कौन कर सकता है । पर दोष-निवारण का उपाय सीधा और सही यह है कि दोष को पहचानने का मौका दिया जाय । जिन बन्धुओं को आपत्ति हुई, जिनमें तीव्र घृणा जाग गई, उनको हक आता था कि मुझे गलती बतलाएँ । उनकी ओर से यह कर्तव्य सम्पादक का भी हो जाता था । यह समझना कि मैं अपनी भूल देख नहीं सकूँगा या देखकर उसे सुधारूँगा

नहीं अन्याय ही कहा जायगा । यह तो मालूम हुआ कि कुछ परम्पराप्रिय पाठकों में तीव्र घृणा पैदा हुई, लेकिन अकारण घृणा ही उनके पास थी ऐसा मैं नहीं मान सकता । अवश्य उसके समर्थन में उनके पास आवश्यक वक्तव्य भी होगा । संपादक को चाहिए था कि उनसे वह वक्तव्य प्राप्त करते और अगर उसे छापते नहीं तो मुझे भेज देते। अव्वल तो वह छपना चाहिए था । निश्चय ही वह वक्तव्य मेरे लेख से सौम्यतर और सत्यतर होता । ऊँचे भाव और ऊँचे विचार होने के कारण ही तो उनमें मेरे हल्के भावों के प्रति जुगुप्सा पैदा हुई होगी । मुझे अब तक आश्चर्य है कि उन बंधुओं के पास से संपादक ने क्यों वह सात्विक वक्तव्य पाने की कोशिश नहीं की । अब भी चाहिए कि उन महानुभावों की भावनाओं को लिपिवद्ध रूप में मांगा जाय और आदर के साथ उसे प्रकाशित किया जाय । मुझे उससे सीखने और सुधरने का अवसर होगा ।

मैंने अपने उन खण्डों को फिर से पढ़ लिया है । संदिग्ध जो समझे जा सकते थे उन्हें एक से अधिक बार । दया का पात्र हूँ कि मुझे अपनी ओर से कोई भूल पकड़ नहीं मिली है । भूल वहां अवश्य रही होगी और वह गहरी और मार्मिक होगी । नहीं तो 'तीव्र घृणा' का भाव कैसे पैदा होता । मेरी विनय है कि मुझे वह बताई जाय ।

परम्परा से मैं प्रगति का विरोध नहीं देखता हूँ । इससे प्रगति का प्रेम रखते हुए परम्परा के प्रति भी मैं अपने में आदर पाता हूँ । मुझे विस्मय है उन लोगों पर जो परम्परा के उच्छेद से प्रगति का आरम्भ चाहते हैं । अभी एक जमाना बीता है जब प्रगति की बड़ी धूम थी । उस प्रगति में यही घोष था कि परम्परा को पहले

उच्छिन्न करना होगा और तब प्रगति का सूत्रारम्भ होगा। उस खयाली प्रगति का क्या भाग्य हुआ, सब जानते हैं। उस समय भी मैंने चेतावनी दी थी कि परम्परा में से ही जो पुष्पित और फलित नहीं होती, वह प्रगति नहीं है। मन का चाव उसमें हो सकता है, या चकराव और भरमाव भी, टिकाव वहाँ नहीं होता। उठना उसमें नहीं होता, बिखरना होता है।

ऐसी निष्ठा रखते हुए मैं स्वयं चकित हूँ कि परम्परा-प्रियता को मैं चोट कैसे दे गया। मेरे मन में चोट थी नहीं, है नहीं, कभी होगी भी नहीं। लेकिन इतना अवश्य है कि वह परम्परा का प्रेम नहीं मोह है जो यहाँ और इस क्षण उस अनुक्रम की कड़ी को बंद और समाप्त देखना चाहता है। अतीत से आज तक जो कड़ी हमें थामे रही है, उसकी सार्थकता इसमें है कि भविष्य को भी थामती हुई वह आगे बढ़े। परम्परा को वह नहीं जानता, नहीं मानता, जो उसे अतीत से जड़ित और भावी से विहीन करता है। धर्म इसीसे कालातीत है। वह नित्य है। विगत, आगत और अनागत को जो एक लड़ी में थामता है वह धर्म है। धर्म इस तरह सदा हरा है। कभी वह सूखता नहीं है। संजीवन का तत्व उसमें सदा लोच और लचक रखता है। जीवित में और शव में क्या अन्तर है—बस यही कि शव में से सम्भावनाएँ मिट जाती हैं। सम्भावनाएँ जिसमें से खत्म हुईं, कहना चाहिये आत्मा ही वहाँ से उड़ गया। जीवंत परम्परा आत्महीन नहीं होती। वह समाप्त नहीं होती। उसमें नाना रूप और प्ररूपों में खिलते जाने की शक्ति प्रवाहित रहती है।

परम्परा का वह प्रेम जो उस प्रवाह को रोकता और बाँधता है, गति में अनर्गलता का हठ पैदा करता है। वह गति निरंकुश और भोगवादी होती है। आज की

धर्महीन, मर्यादाहीन उच्छृंखल उन्नति परंपरा के उसी जड़-राग के कारण है।

स्रोत से धारा निकलकर बहते-बहते रुक जाती है तो क्या होता है। दलदल बनती है, जोहड़ बन जाता है। धारा यदि बहती ही जाती है, वहाँ तक कि जहाँ वह स्वयं सागर ही न हो जाय, तो ऐसी गंगा के किनारे-किनारे अनेक धाम और तीर्थ बनते हैं। उसी अस्खलित और अनवरत जीवन-प्रवाह के मर्म-सूत्र का नाम धर्म है। अन्यथा जब धर्म कुछ से घिरा सम्प्रदाय बना दीखता है, तब ठीक यही घटित हुआ होता है। धर्म पर जब हम बलि जाते और निछावर होते हैं तब हमारे रक्त का अर्घ्य लेकर वह चरितार्थ और संपन्न होता है। अपने ही मोह में जब हम उसे घेर लेना चाहते हैं तो उसी में न्यस्त स्वार्थ की सड़ाँध आने लगती है।

किन्तु यहाँ बात और कहनी थी। वह शब्द-शक्ति की बात। शब्द की शक्ति के उद्धार के साथ ही मानव संस्कृति का उत्थान है। शब्द यदि तलवार से कुंठित होता है, सत्ता से, संख्या से, आवेश से, दबाव से खंडित और अवरुद्ध किया जाता है, तो उतनी ही संस्कृति की पराजय और बर्बरता की जय होती है। शब्द में प्रभाव कहाँ से आता है? उस प्रभाव का स्रोत हृदय और आत्मा है। जितने गहरे में से वह शब्द आयगा उतना ही प्रभावशाली होगा। गहराई स्नेह की, अनुभूति की। शब्द के प्रभाव से बचने या डरने की आवश्यकता नहीं है। वह आवश्यकता उसी को हो सकती है जो अन्तःकरण से विपरीत चलना चाहता है; जो उत्कृष्ट से बचना, अपकृष्ट में खिचना चाहता है। शब्द के असर को जीतना बहुत आसान भी है; मधुरतर और गंभीरतर शब्द से पहले का हल्का असर सहज ही धुल जाता है। अर्थात्

शब्द की काट के लिए उपाय भी शब्द ही है ।

उन सब लोगों को जिनकी भावनाएँ उत्कृष्ट हैं, जिनके विचार महान् और सात्विक हैं, चाहिये कि दूसरे और सब उपायों का अवलम्बन छोड़ दें । घृणा, क्रोध या आवेश का दबाव डालने की उन्हें आवश्यकता ही नहीं है । केवल शब्द का आयुध उन्हें बहुत होगा । स्निग्धतर, सौम्यतर, सत्यतर शब्द । शब्दों में अपना वक्तव्य समक्ष न लाकर यदि वे दूसरी तिकड़म से काम करते हैं तो कैसे माना जायगा कि भाव और विचार उनके उच्च और निर्मल हैं ।

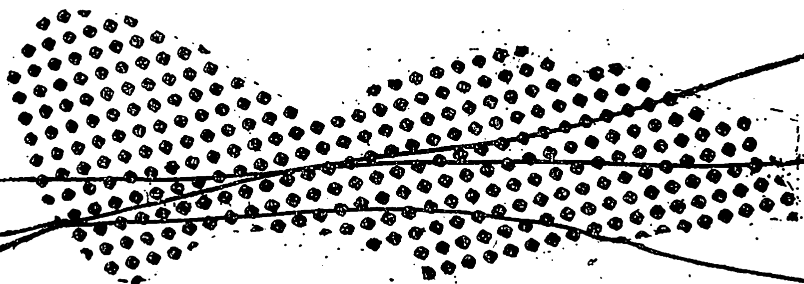
आज का संकट यही है । शब्द शक्ति क्षीण हो रही है । आत्म-विज्ञापन के भाव से और अहंवाद के शब्दों से जो वातावरण व्याप्त है, उससे शब्दनिष्ठा ही टूटी जा रही है । मंचों की, घोषों-विज्ञप्तियों की, अखबारों की भरमार है । उस कोलाहल में आवेश से हीन और प्रीति से युक्त शब्द आसानी से खो सकता है । फिर भी मानव का उद्धार शब्द के साथ है और श्रेष्ठ पुरुषों को चाहिये कि वे शब्द चाहें कम कहें पर वे कहें जिनमें सत्, स्नेह और संकल्प का बल हो ।

जीवन में धर्म पर श्रद्धा होना तो कठिन नहीं जान पड़ता । पर आदमी में जो काम और कामना है, कठिनता उसको लेकर होती है । पर काम और अर्थ, ये ही असल पुरुषार्थ भी हैं । धर्मपूर्वक इन दो पुरुषार्थों को साधा जाए तो मोक्ष फलित होता कहा गया है । जान पड़ता है कि इन काम और अर्थ को लेकर ही कुछ लिख गया होगा, जिन पर सदाशय बन्धुओं को आपत्ति हुई । मेरा मानना है कि मूल भागवद्शक्ति प्रेम है । वह कट-बँट जाती है तो समस्या पैदा होती है । अर्थात् प्रेम यदि मानव में समग्र और संयुक्त हो सके तो उससे समाधान मिलना चाहिये ।

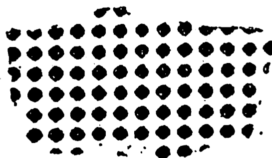
इसी को फिर चाहे योग कह दिया जाए। यानी अखण्ड प्रेम, आत्मैक्य। अर्थ एवं काम का समाहार प्रेम से अन्यत्र कहीं नहीं है। इस समग्र अतीन्द्रिय प्रेम का नाम ही है अहिंसा। अहिंसा 'से' मोक्ष के बजाय अहिंसा 'में' मोक्ष है, यह कहना मुझे अधिक सार्थक लगता है। सत्य बिना अहिंसा के अलभ्य ही रहेगा। यदि कुछ विहित के आगे भी इन लेखों में कदम बढ़ा है तो उसे सह्य इसीलिए मान लेना चाहिए कि प्रयास उस दिशा का है।

जनवरी, १९६०.

जैनेन्द्र कुमार



इतस्ततः



प्रकाशक :
श्री प्रदीप कुमार
पूर्वोदय प्रकाशन
ऋषि भवन, ८, नेताजी सुभाष मार्ग
दिल्ली-६

इतस्ततः

प्रथम संस्करण : १९६२

मूल्य : रुपये दस

मुद्रक :
दि नवचेतन प्रेस (प्रा०) लि०,
(लीजिज़ ऑफ़ अर्जुन प्रेस)
नया बाजार, दिल्ली-६ ।

"इतस्ततः' के कुछ खण्डों में आपने इतने विद्रोही (सामाजिक मान्यताओं के) भावों का प्रतिपादन कर दिया है कि सब मान्यताओं के प्रति श्रद्धालु व्यक्तियों के मन में तीव्र घृणा जाग गई। पत्र के लिए हमारे पाठकों में अधिकाँश व्यक्ति परंपरा प्रेमी हैं। उन्हें आपकी सर्वथा मौलिक स्थापनाएँ अच्छी नहीं लगी। अतः यही है कि इतस्ततः को कुछ काल के लिए स्थगित कर दें। इन कालमों में जो भी जायगा हमारे परंपराप्रिय पाठकों की संशयात्मक दृष्टि का शिकार हो जोयगा।"

—सम्पादक

क्षमा याचना

यह पुस्तक कतिपय उन स्फुट लेखों का संकलन है जो 'इतस्ततः' स्तम्भ के अन्तर्गत एक साप्ताहिक में प्रकाशित होने के लिए लिखे गए थे। पीछे कुछ उनमें यत्र-तत्र भी छपे। स्तम्भ के आरम्भ के कुछ ही अनन्तर पत्र के सम्पादक को असहमति हुई, आपत्ति हुई कि वे असह्य रूप में तीखे हैं। इस नाते स्तम्भ को स्थगित कर दिया गया। 'शब्द और संस्कृति' शीर्षक वक्तव्य उसी स्थिति के उत्तर में लिखा गया था। उचित हुआ है कि संग्राहक और प्रकाशक ने उसे पुस्तक के आरम्भ में रखा है। कारण, वह एक गम्भीर प्रश्न को सामने लाता है। एक प्रकार से आवेशाविष्ट नाना अहम्वादों के तुमुल के बीच साहित्यिक गतिरोध और प्रभावरोध की ही समस्या को उपस्थित करता है।

यह संक्रमण का काल है। निर्धारण और निर्णय के अन्तिम उपाय के रूप में पाशव शक्ति का स्वीकार और प्रयोग करती हुई मानव सभ्यता आज तक बढ़ती चली आई है। अब लगता है कि उस सभ्यता का छोर आ गया है, आगे राह बन्द है। हिंसक अस्त्र के उपाय से ही यदि अन्तिम निपटारा मान्य और अंतिम बन पाता हो तो विज्ञान ने दिखा दिया है कि सम्पूर्ण

नाश के परिणाम के लिए मानव जाति को तैयार हो जाना होगा। अन्यथा मार्ग बदलना, नए दर्शन को खोजना और नई व्यवस्था को अपनाना होगा। प्रचलित मूल्यों की अपर्याप्तता और मौलिक मूल्यों की आवश्यकता आज अनिवार्य होकर प्रकट हो आई है। इन रचनाओं में रंजन की जगह उस दिशा के प्रयास की झलक दीखे तो दोष के लिए मुझे क्षमा किया जाय।

—जैनेन्द्रकुमार
२१-५-६२

जीवन से जो सीखा

मैंने जीवन से क्या पाया ? यह अपने से पूछता हूँ तो कुछ सूत्रभर हाथ लगते हैं । मानो सब प्रकार के सुख-दुख का भोग अन्त में बस सूत्र दे जाता हो । यों तो स्मृतियाँ भी शेष रहती हैं और मृत्यु तक जीवन के साथ चला करती हैं । लेकिन स्मृतियाँ को उपलब्धि कहना कठिन है । उपलब्धि तो इन सूत्रों को ही मानिये ।

मैं जो आज हूँ सो होने की कभी कल्पना न की थी । कुछ किताबें मेरे नाम से छपी हैं और लेखक समझा जाता हूँ । यह लेखक बनने तक मेरा सपना भी नहीं पहुँच सकता था । छुटपन में लिखने का मैं बड़ा चोर था । वह सवाल आते ही सुधबुध सब गायब हो जाती थी । दिमाग काम करना छोड़ देता था । परीक्षा में लिखना पड़ा हो सो बात दूसरी । उस वक्त तो सोच-विचार के लिए मौका न रहता था । डर के मारे आँख मूँदकर कोई नाक की सीध सीधा भागता चला जाय, ठीक वैसी दशा होती थी । लेकिन जब सिर पर वैसा कोई भूत न हो तब लिखना क्यों और कैसे हो ? एक बार कहा गया कि देश-प्रेम पर निबंध लिखो । मानो सुनते ही देश और प्रेम दोनों एक साथ मुझ में खत्म हो गये, सारा होश ही फाख्ता हो गया । ··· किताबों में जिनके नाम देखता और कभी तस्वीरें भी देख पाता था

तो मालूम होता था कि ये सब किसी अपर लोक के देव-पुरुष हैं और यह ज्ञान सामग्री लिख जाने का काम उस अपर लोक में ही संपन्न होनेवाला कोई अलौकिक कर्म है।

ऐसी मेरी हालत थी। वही मैं आज लेखक बना दीखता हूँ! जिंदगी भर उसके अतिरिक्त कुछ भी और बनने की सुविधा और योग्यता नहीं पा सका हूँ। इससे मैंने मान लिया है कि मुझसे कहीं बड़ा सत्य है भाग्य।

मैंने नहीं सोचा और नहीं चाहा था लेखक बनना। चाहें अनेक उठती थीं पर उनमें एक भी इस दिशा में न जाती थी। दुनिया में अलाय-बलाय और सब कुछ बनने की तरफ वे इच्छाएँ दौड़ती थीं। पर हाय कि कुछ भी और न हुआ, एक लेखक बनना ही मेरे लिये रह गया। मेरी इच्छाएं, मेरे प्रयत्न कहाँ गये पता नहीं। इस पर से इतना ही नहीं कि मैं भाग्य को मानता हूँ, बल्कि यह भी मानना पड़ता है कि उसके आगे मैं नहीं हूँ।

सबसे गंभीर और अनिवार्य सूत्र जो इतने बरस रहे चले जाकर मुझे हाथ लगा मालूम होता है यही है। अब हर दिन के बीतने के साथ वह पुष्ट ही होता जाता है। याने कि मैं नहीं हूँ, वह है।

यहाँ शायद कुछ व्याख्या की आवश्यकता हो। मेरा यह पचपनवाँ वर्ष है। हाथ की रेखाएँ देखकर लोगों ने बताया है कि कोई पिचहत्तर वर्ष की आयु तक जीना होगा। मेरी आशा उतनी नहीं है। बल्कि आशा है छुटकारा जल्दी हो सकेगा। भारतवासी की औसत आयु से ज्यादा पाना मुझजैसे के लिये अनुचित होना चाहिये। यह सोचता हूँ और भगवान पर अपने भरोसे को ध्यान में लाता हूँ तो लगता है आशा पूरी हो सकेगी। उठना जल्दी मिल जायेगा। पर जल्दी हो कि कुछ देर से हो, मेरे होने की अवधि की सीमा पर अन्त में एक 'नहीं' ही

सदा के लिये आ बैठनेवाला है। कितना भी परलोक कहूँ, पुनर्जन्म कह लूँ, पर यह 'मैं' तो एकदम मिट जाने ही वाला है। होगा ही तो वह कोई दूसरा मैं; होगा और उसकी बात वह करेगा। मेरी बात तो यहीं तक है कि आज 'हूँ' कल 'नहीं' बन जाऊँगा। मेरे होने के आरंभ का एक दिन था, बीच के यह साठ सत्तर साल पारकर फिर एक दिन होगा कि वह होना बन्द हो जायगा। उस पहले के दिन से पहले और अन्त के दिन के अन्त में अनादि और अनन्त काल है। उसमें मेरा होना झूठ और न-होना ही सच रह जाता है। होना तो आभास मात्र है, माया की लीला जैसा है। यह लीला उसकी है जो सर्वथा और सर्वदा है।

यह ऊपर की बात पढ़नेवाले को कैसी लगती होगी कुछ कहा नहीं जा सकता है। भारी-भारी और उदास-सी वह बात मालूम होती होगी। जीने से वह बेमेल है और प्राणों के उत्साह को एकदम लीला ले सकती है। कर्तृत्व और दायित्व, जिनके बल से आदमी इतना कुछ कर गुजर जाता है, उस बात की दलदल में धंस कर खो जाते हैं। मैं उधर से आँख मोड़ना चाहता हूँ, एकदम ध्यान को उधर से हटा लेना चाहता हूँ। क्योंकि वहाँ इन्द्रिय का कोई भी तो व्यापार नहीं बनता। सोच विचार शून्य हो जाता है। हाथ-पैर ढीले पड़ जाते हैं। काम-धाम सब व्यर्थ बन जाता है। मानो जीने में से सारा अर्थ ही खिच रहता है। मृत्यु की बात स्वयं मानो मृत्यु ही बनकर प्राणों को डस लेती है।

फिर भी क्या किया जाय? कितना ही डरो, बचो, यह सत्य साथ नहीं छोड़ता कि तुम नहीं रहोगे। गहरा विषाद उसमें मिलता है, कभी मीठा-मीठा भी वह जान पड़ता है। पर मिठास वह भयंकर होती है। कुल की कुल

चेतना को चूस जा सकती है ।

तो उस अनिवार्य और गंभीर सूत्र से पहले पहल यह विषाद ही प्राप्त हुआ था । स्वाभाविक भी है । अपने से प्यार करने के आधार पर हम जीते हैं । वही नीच से ग़ायब हो जाय तो आदमी अपने को डूबा-सा अनुभव कैसे न करे । लेकिन उसके साथ ही तत्काल याद आया कि इन पचास-पचपन सालों में जो मेरा बना बनाया है सो सब कैसे हो गया ? अपने बल पर तो कुछ हो नहीं पाया । इसलिये जिसकी अमोघ शक्ति से वह सब होता चला गया, उसमें अपने संपूर्ण 'होने' को झोंककर 'न-हो' जाना डूबना नहीं है, तिर आना है । 'जासु कृपा पंगु गिरि लंघे, बहिरो सुने, मूक पुनि बोले, अन्धे को सब कुछ दरसाई'—वह कृपा स्वयं न-होने से ही संभव बनती है । और सचमुच देखा गया है कि उस कृपा के भरोसे सब प्रकार की अक्षमताएं, अयोग्यताएँ समाप्त हो गई हैं । असंभव संभव बन आया है । जैनेन्द्र लेखक बन सकता है, तो उस कृपा से पंगु गिरि क्यों नहीं लांघ सकता और अन्धा सब कुछ क्यों नहीं देख ले सकता है ?

पुरुष का अर्थ प्रयत्न करना है । जैनेन्द्र ने भी प्रयत्न किया था । दिल्ली तब छोटी थी और वह कलकत्ता भाग गया था । कलकत्ते में सुभीता यह था कि माँ की नज़र से दूर हो सकता था । मां का इकलौता बेटा था और लगभग उसके जन्म के साथ माँ विधवा हो गई थी । वह अब उमर पा गया था, पर निकम्मा और निठल्ला था । माँ को सहारा होना तो दूर, उन पर दूभर था । इसी से ज़रूरी हुआ कि उनके प्यार से वह अपने को बचाये । कारण, वह प्यार उसे अन्दर तक काटता चला जाता था । तो लंबे-चौड़े उस कलकत्ते में उसने प्रयत्न किया, सात रोज़ तक लगातार प्रयत्न किया । पर

नौकरी बीस रुपये की भी हाथ नहीं आई। इसमें से प्रयत्न की व्यर्थता सिद्ध नहीं होती, भाग्य की बलवत्ता ही सिद्ध होती है। भाग्य शायद पुरुष के अर्थ को ज्यादा जानता है। प्रयत्न पुरुष का उतना अर्थ है जितना पुरुष जान सकता है। बीस की नौकरी अपने प्रयत्न में से जैनेन्द्र पा भी जाता तो संभव था दफ्तर की झाड़ू बुहारी का काम उससे उतनी अच्छी तरह न हो पाता। शायद था कि इस त्रुटि के कारण लगी लगाई नौकरी उसकी छूट जाती। तो क्या यह सब उसका भाग्य पहले ही देख रहा था!

प्रयत्न शायद तत्काल को देखता है। इच्छा में से रंगकर भी देख सकता है। भाग्य समूचे को देख पाता होगा। इच्छाओं से ऊपर होकर जो भाग्य रहा करता है सो अगला-पिछला अनायास उसे स्पष्ट ही रहता होगा। इस पर से मैंने यह मान लिया है कि भाग्य के साथ लड़ाई ग़लत है। प्रयत्न वही सद्प्रयत्न है जिसमें कामना का काँटा नहीं है। भाग्य की स्वीकृति के कारण वह प्रयत्न अपनी जगह पर विनम्र बनता है। उसी का आशय कि हर दूसरे के प्रति उदार और आदरशील बनता है। इस पद्धति से मेरा मानना है कि फल प्रयत्न का कुछ अधिक ही आना चाहिये, और यदि नहीं आता है तो वह भी भले के लिये ही नहीं आता है।

ऊपर का सूत्र शायद नैतिक क्षेत्र का मालूम हो सकता है। नीति शायद मानसिकता से अधिक संबंध रखती है। पर आदमी के साथ शारीरिकता भी लगी है। उसके कारण गुज़र-बसर का सवाल मनुष्य के लिये अनिवार्य होता है। मानसिकता उसे नीति की तरफ खींचती है, जिसे पारमार्थिक खिचाव कह सकते हैं। शारीरिकता का खिचाव आर्थिक होता है। गुजर-बसर

का सवाल पारमार्थिक कम किंतु आर्थिक अधिक है। वहाँ नियम स्वार्थ का ज़्यादा चलता है। परमार्थ में अगर लोग मिलते हैं तो अर्थ और स्वार्थ पर आकर वे फूट आते हैं।

यह शरीर पक्ष जीवन का कम प्रधान अंग नहीं है। लेखक प्राणी के साथ भी कम प्रधान नहीं हो सकता। पर लेखन में मानसिकता को प्रमुखता मिलती है। इस व्यापार में पैसे पर प्रेम को महत्व मिल आता है। अब प्रसिद्ध है कि सरस्वती से लक्ष्मी की बनती नहीं है। सरस्वती जो स्वार्थ को लाँघकर देखती है सो अर्थ उसमें अतृप्त छूट जाता है। लक्ष्मी से यह भूल होती नहीं है। हाथ के सौदे के बारे में असावधान वह नहीं रहती। जन्मांतर को किसने देखा है, सरस्वती उस बारे में निमग्न हो तो हो, और संसार के संबन्ध में कुछ विमुख भी चाहे तो रह जाय। लक्ष्मी को तो इसी संसार से मतलब है। वह यहाँ और अब के सम्बन्ध में जगी न रहे तो कौन जगा रहे। इसलिये सरस्वती के फेर में लेखक निर्धन रहे तो तर्क से असंगत बात नहीं है। यह निर्धनता उसकी संवेदना को और पैना बनाती है।

इस तरह शारीरिकता का प्रश्न झमेला खड़ा करता है। पहले का जमाना बदल रहा है। ग्राम-रचना टूट रही है। उद्योगों के सहारे नगर बड़े से और और बड़े बन रहे हैं। इसमें पैसे का चलन तेज़ पर तेज़ होता जाता है। पहले हो सकता था कि गुरू शाला में शिक्षा दे या व्यास आसन से उपदेश दे और फीस या वेतन की बात ध्यान में न लाये। तब संभव था कि अनायास लोग उसे ऊँचा उठाये रखें। उसके भरण-पोषण की समुचित व्यवस्था होती रहे और पैसा कहीं बीच में न आये। अब पैसा उस तरह किनारे नहीं हो सकता।

मानव सम्बन्ध अब पैसे पर टिकते हैं। इसलिये लेखक जीव की स्थिति बेढब हो गई है। उसका मूल्य प्रेम है, समाज का मूल्य पैसा है । इस कारण प्रश्न बना ही रहता है। अब कुछ प्राणी हैं जो थल-चर हैं कुछ जलचर हैं। बहुत कम हैं जो थल-जल दोनों में एक समान चलते हैं। लगता है लेखक को वैसा ही वाणी बनने की चुनौती है। लेखक के आत्मदान में तो प्रतिदान का विचार नहीं है, व्यापार में एवज़ का ध्यान ही प्रमुख है। इसलिये मालूम हुआ कि व्यवसाय जगत् में आकर लेखक को प्रतिदान के विचार के अनावश्यक नहीं मानना होगा।

मेरे साथ यह समस्या सदा वर्तमान रही है। शुरू में तो किसी ज़िम्मेदारी के ख़याल को मैंने अपने मन पर आने नहीं दिया। लापरवाह बना रहा और विवाह के बाद भी घर-गिरिस्ती के बारे में व्यावहारिक ढ़ंग पर नहीं सोचा। लेकिन आगे जाकर लापरवाही का भाव टिकना मुश्किल होता चला गया । तब विनिमय और एवज़ के सिद्धाँत पर विचार गये बिना नहीं रहा। विचार गया, पर बिगड़ी आदत संभली नहीं। अर्थात् सामाजिक और तात्विक प्रश्न के रूप में उस पर कितना भी सोचा हो, निजी प्रश्न के रूप में उस सम्बन्ध में मैं असावधान और असफल ही रहता गया हूँ।

यह अर्थक्षेत्र का प्रश्न है। पर वहाँ भी मैंने अपने लिये सीखकर कुछ अंतिम मान लिया है और वह यह कि अर्थ को परमार्थ से अलग न देखो। अर्थ इसमें मिटता दीखे तो मिटने दो। परमार्थ जिस अंश में सिद्ध होगा उस अंश में अन्त में अर्थ भी स्वयं सिद्ध होता चला जायेगा।

आइये, आर्थिक विनिमय पर विचार करें। लेखक

लिखता है और कानून उस लिखे हुए को स्वत्व और संपत्ति करार दे देता है। लेखक को शुरू में इसका पता नहीं रहता। लिखने का यह लाभ उसे अपने लिये भरपूर जान पड़ता है कि वह पाठक वर्ग तक फैल रहा है। इस पद्धति से अपने स्वयं में वह विस्तार पाता है और इसमें परम तृप्ति का लाभ अनुभव करता है। बल्कि इसके लिये संपादक और प्रकाशक का वह कृतज्ञ होने को तैयार होता है। किंतु प्रकाशक व्यापार में रहनेवाला प्राणी है। कानून का वह पूरा पता रखता है। इन दो भिन्न प्रकार के व्यक्तियों के समागम से साहित्य की दुनिया चलती है। एक श्रमी है, दूसरा व्यवसायी है।

श्रम और व्यापार के संबंधों के बारे में बेहद सोचा विचारा गया है। समाजवाद-साम्यवाद जैसे पंथ चले हैं। उस विचार के समय जान पड़ा है कि हिसाबी के हाथों बे-हिसाब यानी भावुक को घाटे में रहना पड़ेगा ही। पैसे के चलन ने तेज़ी पकड़ी तो मालूम हुआ कि यह बे-पैसा आदमी, जो फिर भी ऊंचा था, पैसे में कीमत पड़ने के हिसाब से ही नीचे आता जा रहा है। भारत की परि-स्थिति इसी संक्रांतिकाल में से गुज़र रही है। यहाँ धर्म और नीति प्रधान थे। पर विज्ञान ने मशीन दी और मशीन ने जीवन को तेजी दी। एक नई और औद्योगिक जीवन पद्धति का उदय हुआ। भारत का ब्रह्मण्य वर्ग नीति-मूल्यों में रहने वाला था। संक्रांति का समय उसी के लिये सबसे कठिन बना है। उसके और उन जैसे दूसरों के लिये जो धर्मनीति को साधना में रहते थे।

यहाँ विशेष आपबीती में जाने की आवश्यकता नहीं है। जीवन जैसे तैसे कट ही गया है। इसलिये अपने निज को लेकर मैं विचार नहीं कर सकता।···लेखक के पास पैसा किस पद्धति से पहुँचता है। वह पहले पाठक

के पास से आता है, कुछ भाग उसका विक्रेता के पास छूट जाता है, शेष वह प्रकाशक के पास पहुँचता है। फिर प्रकाशक अपने लाभ का अमुक अंश लेखक के पास पहुँचाता है। पर प्रकाशक और लेखक के बीच बनी हुई कोई व्यापारिक प्रणाली नहीं है। लेखक निर्भर है प्रकाशक के स्वभाव और सुविधा पर। इसमें लेखकों के अपने-अपने अनुभव हैं। लेकिन यह साफ है कि प्रकाशन के काम में जिन जिन का सम्बन्ध आता है उनमें पैसे के मामले में लेखक का विचार सबसे पीछे होता है। उस कोटि का श्रमिक वह हो नहीं सकता जो यूनियन में बंधकर दबाव से अपना हक निकलवाते हैं। न वह व्यवसायी हो पाता है जो हिसाब किताब में चौकस हो।

यह आर्थिक प्रणालियों की समस्या सर्व सामान्य है। लेकिन लेखक के लिये विकट है। उन सब लोगों के लिये विकट है जो स्वार्थ को लेकर विशेष साग्रह और सचेष्ट नहीं हो सकते। पर सतत इस आर्थिक समस्या में रहते और बीतते हुए जो सीखा है वह यह कि प्रतिदान की बात दूसरे पर छोड़ो, आत्मदान पर ही ध्यान रखो। विनिमय के सिद्धांत पर चलने वाली इस दुनिया में शायद यह सूत्र सही न लगे। पर मैंने उससे खोया नहीं है। हो सकता है कि प्रकाशक मुझे विशेष भले मिले। पर कभी मैंने उनके रायल्टी के हिसाब के कागज पर निगाह नहीं डाली। आते ही मैं उसे उलटकर रख देता था। इस व्यवहार से आज भी मानता हूँ कि मैंने कुछ गंवाया नहीं है, कमाया हो भी सकता है।

अंग्रेजी में कहते हैं 'फर्स्ट डिज़र्व, देन डिज़ायर'। मुझे प्रतीत होता है कि इच्छा न करने से योग्यता का आरंभ है। योग्य बनने का मतलब अपनी जगह अपना काम करत जाना है। उसके बाद फल स्वयं विवश होता

है कि आये ।

अर्थ का प्रश्न मानव संबन्ध के प्रश्न से जुड़ा है। यही सम्बन्ध साधने की कला सबसे कठिन है। आदमी सभी अपनी अपनी जगह अहंमन्य हैं । उनको साधना खेल नहीं है। उससे बड़ी साधना शायद दूसरी हो भी नहीं सकती। इस क्षेत्र में जो कर्तव्य को लेता और अधिकार को छोड़ देता है, अंत में वही जीत में रहता है। उसके अधिकार का क्षेत्र फिर आप ही आप विस्तृत होता जाता है । अधिकार उसके सिर पर सवार नहीं होता । उसे मिला अधिकार किसी पर भारी नहीं पड़ता। इसलिये लोग उसे स्वतः अधिकार देते और वह उसे केवल कर्तव्य के रूप में स्वीकार करता है।

व्यापार के क्षेत्र में स्वार्थ का नियम चलता है। राजकरण में वह और भी बल बनता है। कारण, वहाँ स्वार्थ परिवार से आगे दल में संगठित हो आता है। इसलिये राजनीति से अधिकांश संस्कृति की हानि होती है। दल-बल के नाम पर अहंबल को ही उद्दीपन मिलता है। उस दृष्टि के अधीन व्यक्ति का उपयोग किया जाता है, शेष को छूछा छोड़ दिया जाना है। गहरी भाषा में कहें तो ऐसे हम पूर्ण मनुष्य के लाभ से वंचित रह जाते हैं। यहां से शोषण भी फलित होता है। क्योंकि व्यक्ति से हम योग नहीं प्राप्त करते कि जब केवल उपयोग ही लेने की इच्छा रखते हैं।

शक्ति से आतंकित न होना, न शक्ति से आतंकित करना, यह शिक्षा आप ही यहाँ से फलित हो आती है। धन अथवा दूसरी क्षमता को शक्ति के रूप में हम अनुभव करते हैं और तो उससे मद चढ़ता है। प्रार्थना उसकी अक्सीर दवा है। उसके योग से अहं-शक्ति समाज-शक्ति बनती है, और समाज-शक्ति विभु-शक्ति हो आती

है। तब उससे अनिष्ट नहीं हो पाता, जन-मंगल ही होता है। उससे शक्तिमान सेवक बनता है।

अभी कुछ ही वर्ष पहले भारत ने एक युग का भोग पाया था। तब गांधी जीवित थे और एकाएक ऐसा मालूम होने लगा था कि पवित्रता और सेवा में शक्ति है। अन्यत्र शक्ति का अधिश्ठान झूठा प्रतीत होने आया था। कानून के डंडे का जोर मन में भय पैदा नहीं करता था, बल्कि उपहास जगाने लग गया था। तब धमनियों में स्फूर्ति अनुभव होती थी और व्यक्ति स्वार्थ-संग्रह छोड़ आत्म-विसर्जन की ओर बढ़ता दीखता था। वह हालत अब बदल गयी है। इसी से संकट का अनुभव बढ़ता जा रहा है। अनुभव से मैंने सीखा है कि जो मिल-जुलकर प्राप्त किया जाता और मिल-जुलकर भोगा जाता है, वह भारी नहीं पड़ता। इसके विरोध में किसी के अपमान के आधार पर बनने वाला हमारा सम्मान अमुक को निम्न रखकर अपनी बनने वाली उच्चता, निर्धनता के बीच की धनिकता, सबकी भूख के बीच कुछ का भोग आप ही भारी हो जाता है और खुद को खलने लगता है। राज-नीतिक नेता इसी कारण आगे पीछे स्वयं परेशान हो आता है और शाँति के लिये उसको एकांत की आव-श्यकता होती है। कुछ ऐसा लगता है कि महत्वाकाँक्षा ज्वलन-शील वस्तु है और उसमें भीतर का रस सुखाकर बाहर रेत में भागते जाना बड़ी उपहासात्मक प्रक्रिया है।

मई, १९६०

इन
पृष्ठों
पर

खण्ड १

प्रेम, विवाह और व्यक्तित्व

खण्ड २

नग्नता और सभ्यता ।

खण्ड ३

स्मशान ।

खण्ड ४

| प्याले में तूफान



खण्ड ५

| धर्म और विज्ञान



कृपया
१. पृष्ठ २२७ पर 'क्यों त्याग' को पृष्ठ २३५ पर मानें।
२. पृष्ठ २३५ पर 'पैसे का सत्य' को पृष्ठ २२७ पर मानें।
३. अनुक्रम में भी तदनुसार परिवर्तन मानें।

खण्ड ६

पैसे का सत्य |



खण्ड ७

नवाब और आदर्श |



प्रेम, विवाह और व्यक्तित्व

खण्ड 1

विवाह का अभिनंदन ।

प्रेम और विवाह—आधुनिक समाज के दो जलते प्रश्न है। हमारी मर्यादा का तकाजा है कि प्रेम और विवाह दो समानान्तर रेखा में चले। इससे वे कभी मिलेगें नहीं और एक दूसरे को काटेंगे भी नहीं। लेकिन क्या इन दोनों के स्वर समानान्तर होकर रह जाने वाले दीखते हैं।

उस रोज़ घर पर मंडली जुड़ी और विवाह पर बात हो निकली। उसमें अगले दिन हम सबको शामिल होना था। पहले तो बात निजी और व्यक्तिगत रही। फिर पूरी संस्था का ही विवेचन हो निकला। एक ने कहा—भई, विवाह महंगा सौदा है। फिर से जीना मिले तो मैं इस पचड़े में न पड़ूँ।

दूसरे ने कहा—तुम तो जख्म खाये हो। एक जूए से बंधे रहे हो। मैं काफी आज़ाद रहा हूँ। विदेशों में बीसों बरस गये हैं। कह सकता हूँ कि वे मेरे कोरे नहीं गये। लेकिन देखता हूँ कि उस सब में कुछ नहीं है। अन्त में सम्बन्ध विवाह का है जहाँ स्थिरता मिलती है। जवानी के लिए नहीं, विवाह बुढ़ापे के लिये हैं।

तीसरे ने कहा—अपनी अपनी बात अलग है। प्रश्न को समाज की ओर से देखना चाहिए। आप नाराज हो सकते हैं, सन्तुष्ट हो सकते हैं। हो सकता है पत्नी की वाणी मीठी हो, चेहरा फीका हो। या विपरीत यह हो सकता है कि चेहरा चन्द्र के समान हो और चरित्र——। पर बात निज की नहीं समाज की है। समाज के पास विवाह के सिवा दूसरी संस्था क्या है जो टिकाव दे ?

"ठीक है, ठीक है।" चौथे ने कहा—"व्यवस्था सम्पत्तिमूलक हुआ करती है। यानी मेरी स्त्री, मेरा पति, मेरा घर, मेरे बच्चे। लेकिन ऐसे क्या स्वार्थ के चक्र का ही निर्माण नहीं होता ? अपने

को और अपनों को आदमी सब कुछ मानता है और इनके पोषण के लिये शेष को शोषण का शिकार बनाता है। ऐसे समाज स्थित और स्थापित स्वार्थों का जंजाल बन जाता है। और इस 'अपने-अपने' के चक्र के मूल में है यह आपका विवाह। मैं याद कर सकता हूँ कि मैं विज्ञान में प्रथम आया था। तब क्या-क्या मनसूबे थे। सब वे अब धूल में मिले पड़े हैं। क्यों? क्योंकि विवाह हुआ और परिवार हुआ और उस कोल्हू में जुतकर मैं ऐसा बैल बना कि इधर-उधर तक न देख सका। अब दुहरे बदन का प्रोफैसर ही तो हूँ जो आमदनी के रास्ते बढ़ाने की सोचता रहता है। संसार में इसके अतिरिक्त और कुछ सोचने को रह ही नहीं गया है। विज्ञान का उपयोग मेरे पास बस इतना है कि उस पर टैक्स्ट बुक लिख दी जाय।

दूसरे ने बीच में टोककर कहा—आइन्स्टाइन, मैं समझता हूँ, विवाहित थे।

उत्तर मिला, खाक विवाहित थे। पूछा जाय पत्नी से कि विवाह का क्या हाल रहा। निश्चय विवाह हुआ न हुआ जैसा रहा होगा।

"तो इसमें क्या मुश्किल है। आप भी विवाह को वैसा ही बना लीजिये। कोल्हू क्यों बनने देते हैं।"

प्रोफेसर ने सौम्य भाव से कहा—मानता हूँ आपकी बात। लेकिन यह भारतवर्ष है। विवाह यहाँ सुविधा नहीं है, मर्यादा है। विलायतों में वह कुछ आरज़ी चीज है, आपको चारों तरफ से घेरती नहीं। यहाँ वह होल टाइम काम है। आदमी आदमी पीछे होता है, गिरस्ती पहले रहता है। बस कुछ पूछिये नहीं। आप तो जानते हैं—

"तो महाशय, आप क्या सोचते हैं, क्या ऐसा हो सकता है कि माँ बच्चे को जन्म दे और अपना न कहे। प्रकृति में ही मैं और मेरे को अवकाश है। इसमें से तुम और तुम्हारे की सृष्टि आप ही हो जाती है। क्या इसके बिना काम चल सकता है। इससे उत्तीर्ण

समाजवाद कैसा क्या होगा, मैं समझ नहीं सकता।

प्रोफ़ैसर ने कहा—प्रकृति पर हम रुक नहीं सकते। इसी से पुरुषार्थ का अर्थ है, संस्कृति का निर्माण। मैं और मेरा वहाँ रहेगा; लेकिन ये संज्ञाएँ अधिकार के लिये नहीं, कर्त्तव्य के लिए होंगी। मेरी चीज़ का जो मतलब है वही मेरी स्त्री का भी मतलब हुआ करता है। लेकिन संस्कृति ने बताया कि स्त्री उस अर्थ में मेरी या किसी की नहीं हो सकती। इसी भाव का और भी विकास होता जायगा। मैं नहीं कहता कि तब विवाह मिट जायेगा। लेकिन यह निश्चित है कि आज के जैसा उसका मतलब न रहेगा।

पहले सज्जन ने उत्सुक भाव से बीच में ही कहा—खुलासा कहिये कि क्या होगा ? मेरी स्त्री मेरी होगी और नहीं भी होगी ?

"जी हाँ, वह स्त्री होगी और अंत तक अपनी रहेगी। आपकी होगी तो अपनी और स्वयं रहकर। यदि इसमें उसके स्वतः को सुविधा नहीं मालूम होगी तो वह आपकी न रहेगी। विवाह जो स्वयं से स्वतः को छीनता है आगे नहीं टिकनेवाला है।"

"ऐसे क्या अव्यवस्था न फैलेगी ?"

"अव्यवस्था की अवस्था आज नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता। सिर्फ व्यवस्था का ढकना ऊपर है। सतह के नीचे भी वह है, ऐसा मान लेना भ्रम होगा। फिर यहाँ तलाक नहीं है, या प्रचलित नहीं है। दूसरे देशों की बात इससे भिन्न है। तो क्या यह मानें कि वहाँ की व्यवस्था ही खराब है ? असल में हर युग, हर देश, अपनी प्रवर्तमान संस्थाओं से चिपटा रहता है। उससे दूसरी स्थिति उसे सम्भवनीय नहीं जान पड़ती। लेकिन मैं कहता हूँ कि प्रेम पर बन्धन बनकर आनेवाला विवाह अधिक काल टिक नहीं सकेगा। स्थायी भाव प्रेम है।

पहले सज्जन ने कहा—मैं प्रेम का कायल हूँ। मेरा वोट उस युग के लिए है जहाँ प्रेम से अलग विवाह है नहीं। लेकिन एक बात है, प्रेम मुक्त है। उस पर जिम्मेदारी कोई नहीं आनी

चाहिए। वह ज़माना आए तो लुत्फ़ है जिन्दगी का। नहीं तो जिन्दगी एक बार और मुसीबत है।

तीसरे सज्जन ने कहा—क्या मैं पूछ सकता हूँ कि तब पिता का क्या होगा। क्या वह पद कायम रहेगा? क्यों प्रोफेसर साहब?

प्रोफेसर ने हँसकर कहा—मैं भी आपके ज़माने में रहनेवाला हूँ। जब बन्धन न होगा, प्रेम मुक्त होगा और आदमी मुक्त होगा, तब संस्थाओं को और संज्ञाओं को क्या स्वरूप मिलेगा, यह मैं पेशगी कह नहीं सकता। पर मुक्ति की ओर हम बढ़ रहे हैं, यह निश्चय है। मेरा अनुमान है कि मुक्ति वह नहीं है जो दायित्व से डरती है। मुक्ति उसी को कहेंगे जहाँ डर एकदम हो नहीं। आज तो उस अवस्था की कल्पना कठिन है, क्योंकि आदमी विवशता अनुभव करता है, इससे उसकी मुक्ति की धारणा उस बेबसी की अपेक्षा से बनती है। वह सही धारणा नहीं है। मुक्त अवस्था में पाप रह नहीं जाता। कारण कि द्वंद्व नहीं रहता। मुक्त गैर-ज़िम्मेदार हो कैसे सकता है। पर ज़िम्मेदार है वह अपने प्रति। हम ज़िम्मेदारी को बाहर से आया मानते हैं। तब वह सचमुच बन्धन है। प्रेम ऐसे बन्धन को ले नहीं सकता। आता है तो प्रेम वहाँ से उड़ जाता है। और फिर जो कर्त्तव्य-पालन है वह सूखा आडम्बर है। आडम्बर गिरे और टूटे तो इसमें कोई व्यवस्था का नुकसान नहीं होता।

बात गम्भीर हुई जा रही थी और सच को सरस रहना चाहिए। मैंने कहा—छोड़िये, यह कहिये कि आप सबके संदेश वर-वधू के लिये तैयार हैं कि नहीं? अभी पहुँचाने होंगे, फिर अंजलि रूप भेंट करने के निमित्त उन पर जिल्द वगैरह बंधने में भी समय लगेगा।

मालूम हुआ कि पहले और चौथे सज्जन आशीर्वाद का पत्र साथ लाये हैं। शेष लोग खाली हाथ हैं। मैं उन आशीर्वचनों को सर-सरी निगाह से देख गया। मुझे विस्मय हुआ कि उनमें वर-वधू के लिए कोमल अभिनंदन और अखंड सौभाग्य का आशीर्वाद है। यही

दो बन्धु वाद-संवाद में विवाह संस्था के प्रति अश्रद्धालु दीखते थे। लेकिन यही थे जिन्होंने हार्दिकता के साथ विवाह के द्वार से आगे संसार-यात्रा में पग और मनोरथ रखनेवाले दम्पत्ति के स्वागत में अपना हार्दिक योग और आश्वासन और दिया था।

अपने इन चारों मित्रों का मैं परिचय नहीं देना चाहता। कारण, लोग पहचान जाएँगे। लेकिन पहले और चौथे सज्जनों के बारे में सब जानते हैं कि वे सफल पति और सफल गृहस्थ हैं। तो क्या सच यह है कि विचार का और वाणी का साहस मर्यादित व्यवहार में से ही अधिक प्राप्त होता है! एक की वाणी खुली है, दूसरे का विचार उन्मुक्त है। लेकिन दोनों ही अत्यन्त प्रामाणिक और विश्वसनीय नागरिक हैं!

मालूम होता है कि विवाह से उत्तीर्णतर यदि कोई अवस्था हो तो वह भी विवाह में से प्राप्त होगी। विवाह से निभाव जिनका नहीं है, वे उसकी आवश्यकता में बार-बार पड़ेंगे, बार-बार वहाँ टकराएँगे, और कभी उत्तीर्ण न हो पाएँगे।

जुलाई १६५६.

स्त्री और पुरुष

लोग कहते हैं और ठीक कहते हैं कि व्यभिचार एक तरफ़ा कैसे हो सकता है। स्त्री का सहयोग आवश्यक है। लेकिन पुरुष ने कहा कि घर में तो हर हालत में सती-धर्म रहेगा। घर से बाहर की जो बात है वहां क्यों न ऐसी स्त्रियां हों जो पत्नी न हों, अतः जिनका प्रश्न न हो। अवश्य ऐसी स्त्रियों को होना चाहिये।...एकदम आवश्यक है, नहीं तो नेता पुरुष का स्वास्थ्य और चित्त चलित रहेगा !

स्त्री और पुरुष के बारे में एक पत्र-लेखक पूछते हैं। जानना चाहते हैं कि मुझे उस सम्बन्ध में क्या कहना है।

मैं जानना चाहता हूँ कि वह क्या चाहते हैं। स्त्री है, पुरुष है, और बस वे हैं। उसमें कहनें सुनने को क्या है !

पत्र में संकेत उन्होंने नहीं दिया है। इसलिये बात चारों तरफ इतनी खुल आती है कि कहीं पकड़ नहीं बैठ पाती। उस अनंतता में कुछ कहा नहीं जा सकता।

लेकिन शायद वह उस झगड़े-झमेले के बारे में सोचते हैं जो ये मिलते जुलते से दोनों प्राणी आपस में पैदा कर लिया करते हैं। ठीक है, स्त्री पुरुष से कुछ भिन्न है। पर भिन्न वे इतने कम हैं कि अभिन्न ही कहना होगा। किन्तु इस अधिक अभिन्नता और ज़रा-सी भिन्नता के कारण ही बखेड़ा बेढ़ब बन जाता है।

अजब तो यह है कि दोनों के मेल से बीच में तीसरा पैदा हो आता है। शायद दोनों दो हैं ही इसलिए कि तीसरे को जन्म देते चले जायें। ऐसे संस्कृति चली चले और रुके नहीं।

पहले प्रकृति को हमने ज्यों का त्यों ले लिया। देखा कि स्त्री माता बनती है और मान लिया कि स्त्री का काम माता बनने में पूरा होता है। पुरुष इस सारे मामले से बचा रहता है, और

छड़ीदा ही बना रहता है। तब मान लिया गया कि बच्चा जो माता में से आता है सो घर गृहस्थी का काम भी उसी का है, पुरुष का वह नहीं है।

पुरुष का काम फिर क्या है ? बस वह पुरुष का काम है जो परिभाषा में नहीं आता।

इसी से शुरू में पुरुष कोई बहुत आवश्यकता का और दायित्व का प्राणी नहीं समझा गया था। केन्द्र में थी स्त्री। परिधि पर पुरुष रहे तो भले रहे। अनुत्तरदायित्व उसका गुण था। जिस्म उसे अधिक मिला था और जिम्मा कम मिला था। इससे वह उन सब कामों में आगे था जो बसाते नहीं उजाड़ते हैं।

स्त्री समझदार हो तो देखेगी कि पुरुष की आज़ादी समर्थनीय वस्तु नहीं है। पर फिर भी स्त्री पुरुष की उस आज़ादी को सहायता ही नहीं देती, पसंद भी करती है। वह आजादी अन्ततः हिंसा की आज़ादी है और स्त्री उसमें रस लेती है।

स्त्री ने खेल-खेल में बच्चा पा लिया। अब तक खेल था, अब समस्या बन गई। पशुलोक में तो चलो समस्या उतनी होती नहीं, कारण बच्चा हुआ नहीं कि दौड़ भाग करने लग गया। पर यह दो टांगों पर सीधा होकर चलने वाला आदमी जो बना सो उसका शिशु बड़ा असहाय जनमा। यहां से मालूम हुआ कि खेल तो है, पर जिन्दगी आगे भी कुछ है, वह ज़िम्मेदारी है।

सच यह है कि ज़िम्मेदारी ओढ़ी-सी भावना है। पुरुष पर तो तभी आती है जब वह लेता है, और स्त्री ममता से अपना लेती है। वह ज़िम्मेदारी को किसी विचार और विवेक की ओर से पाने से पहले, और बजाय, ममता-मोह में से अपना रहती है। इस ममता में से वह पुरुष की आज़ाद और हिंसा वृत्ति की उपासिका तक बन जाती है। चले नर साहब और इसे मारा, उसे तोड़ा, तीसरे को लूटा और स्त्री के पास आये। शिकार को देखकर वह मग्न हुई, माल और लूट को देखकर मुग्ध हुई। नर को मालूम हुआ कि यह उसका पौरुष है। स्त्री ने सेवा की और सराहना और कृतज्ञता की

निगाह से उसे देखा । बस उसमें ज़ोर चढ़ा कि फिर दुनिया में निकलेगा, बाहुबल आज़मायेगा, और यह वह कर दिखायेगा। स्त्री इस तरह ठगी जाती है । पुरुष लाता और पटक देता है । कपड़े इतने चाहिये, पुरुष पचास गुना ला जुटाता है तो स्त्री मग्न होती है । आभूषण आवश्यक नहीं है, पर पुरुष गढ़ता और पहनता है तो स्त्री गर्व गौरव मानती । स्त्री के खातिर वह अपनी आज़ादी और अपनी हिंसा का प्रदर्शन और प्रयोग करता है और फल सामने पाकर स्त्री कृतार्थ होती है । स्त्री अनजाने ऐसे दास बनती है और पुरुष को स्वच्छन्द और स्वामी बनने में बढ़ावा देती है । पुरुष पदार्थ जीतता और जुटाता है तो स्त्री उसे बदन पर और घर में सहेजती है । समझती है कि यह उचित है और उसका हक है । उसके पास बच्चा है और वह सेवा की मुस्तहक़ है । इसलिये मुनासिब है कि पुरुष जाये, जीते, और उसके लिए सुभीते करे । आखिर उसको यह लम्बा चौड़ा शरीर किस लिये मिला है, यह मर्दानगी का स्वभाव किसलिये मिला है । वह आदमी क्या जो आगे बढ़कर ललकारे नहीं, लड़े नहीं और मरे-मारे नहीं । इस प्रकार स्त्री ने पुरुषोचित गुण के नाम पर अपने स्त्री-सुलभ स्वभाव के कारण पुरुष में उन वृत्तियों को प्रोत्साहन दिया कि जिनसे पुरुष का दर्प बढ़ता गया. धर्म घटता गया । स्त्री नाज़ुक बनती है और नज़ाकत को अपनी शोभा और भूषा मानती है । अबला कहे जाने में मानती है कि बोझ उसका पुरुष के कंधे पर जा पड़ता है कि वह करे और लाए । लाए हुए को पाने का अधिकार उसके पास रह जाता है । ऐसे पुरुष हठात् दाता और बलशाली बनता है ।

बात यह कि स्त्री-पुरुष दोनों अपने में अधूरे हैं । पूर्ण अर्धनारीश्वर है । इससे पुरुष स्त्री में न खिंचे यह सम्भव नहीं है । स्त्री तो साफ ही पुरुष के अभाव में माता हो नहीं सकती । लेकिन इतना है कि पुत्र में स्त्री किंचित् पुरुष को पा जाती है । फिर अपने मानसिक और भावनात्मक जीवन के लिये वह पुरुष की इतनी प्रार्थिनी नहीं रहती । उधर पुरुष को यह सुविधा नहीं है । संतान

में वह स्त्री की पूर्ति नहीं पा सकता। उसके पास अपना अहंकार ही है कि उसमें से रस खींचा करे। पर वहीं से ऊबकर अघाकर तो लौट लौटकर वह स्त्री की गोद में जाता है। इस भांति पुरुष स्त्री से कभी उत्तीर्ण नहीं हो सकता है। उत्तीर्ण तभी हो सकता है जब वह किसी न किसी प्रकार कुछ स्वयं भी किंचित माता बने। स्त्री जिस रूप में पुरुष को लेती आई है, उससे पुरुष को इसमें सहायता नहीं मिली। पुरुष माता बनना सीखने की जरूरत में नहीं आया। वह योद्धा और विजेता बनने की धुन में रहता और रखा जाता रहा है। परिणाम यह होता है कि वह स्त्री से दायित्वशीलता की अपेक्षा रखता है, स्वयं अपने लिए कोई दायित्व नहीं मानता।

पुरुष विवाह करेगा, लेकिन वहाँ घिरा नहीं रहेगा। विवाह पहले तो अनेकानेक करते जाने में वह गलती नहीं देखता था। अब अगर एक से होता है तो विवाह ही तो होता है। ठीक है, विवाह से घर बनता है। लेकिन बाहर इतनी जो दुनिया है,—यह बाहर उसके आखेट का क्षेत्र है। वहाँ एक या दो या दस आदि गिनती की शर्त ही नहीं है।

लोग कहते हैं और ठीक कहते हैं कि व्यभिचार एकतरफा कैसे हो सकता है। स्त्री का सहयोग आवश्यक है। लेकिन पुरुष ने कहा कि घर में तो हर हालत में सतीधर्म रहेगा। घर से बाहर की जो बात है वहां क्यों न ऐसी स्त्रियाँ हों जो पत्नी न हों, अतः जिनका प्रश्न न हो। अवश्य ऐसी स्त्रियों को होना चाहिये। कारण, पुरुषों का काम दुर्धर्ष है। लड़ना पड़ता है, जी जान पर खेलना होता है। इधर-उधर घूमते रहना पड़ता है। मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य के लिये जरूरी है कि इस सब अवस्था में उसे स्त्री की सुविधा मिलती रहे। एकदम आवश्यक है, नहीं तो नेता पुरुष का स्वास्थ्य और चित्त चलित न रहेगा! अतः शूर और सामंत जनों के लिये जितना यह अनिवार्य हुआ कि उनके अन्तःपुर असूर्यपश्य हों उतना ही अनिवार्य यह भी हुआ कि उनके चित्त पर दबाब न आये और केलि-क्रीड़ा की हर व्यवस्था उनके लिए सदा प्रस्तुत रहे।

हमारे समाज का रूप जब तक ऐसा रहेगा कि सुरक्षा और युद्ध जीवन के प्रमुख और प्रधान कर्म रहें तब तक रसों में शृंगार रस प्रधान रहेगा। वहां सब परकीया की महिमा रहेगी। सतीत्व पर बल कितना भी दीजिये, और वह बल व्यवस्था विचारक देते ही रहते हैं, परकीया और अभिसारिका का शृंगार सती नारी से बढ़-चढ़कर ही होता रहेगा।

वीरोचित कारनामों की जिनसे हमें अपेक्षा रहती है, मांग रहती है कि वे दुश्मन से मोर्चा लें और समय पर अपनी जान पर खेल तक जायें, उनके लिये आवश्यक है कि सुरा सुन्दरी की व्यवस्था समीप रहे। इस व्यवस्था के बिना शूरवीरता का वह नमूना नहीं तो तैयार हालत में हरदम मिलेगा कैसे ?

फ्यूडल और सामन्ती युग कहकर हम यह न मान लें कि बातें यह पुरानी हुईं। शब्द से नया पुराना नहीं बनता। आज भी यदि हमारे रहन सहन का ढंग ऐसा है कि सैनिक श्रमिक से प्रधान है, व्यावसायिक उत्पादक से प्रमुख है, राजनीतिक सांस्कृतिक से महत्वपूर्ण है तो यह न मान लेना चाहिये कि मूल्य बदल गए हैं। लोकतंत्र, चुनाव, विधान, सदन जैसे शब्दों के प्रचलन से एकाएक हम न मान बैठें कि यथार्थता बदल गई है। बदलेगी वह तब जब रहन-सहन के मूल्य बदलेंगे। अर्थात् घर की माता का मूल्य शूरवीर को प्रसन्न रखने वाली रमणी से सार्वजनिक रूप से अधिक होगा। आज वह अधिक है इसमें सन्देह है। इस समय जिस ओर जीवन की गति है, जान पड़ता है कि सार्वजनिक अनुरंजन संतति पालन से अधिक अभ्यर्थनीय व्यापार है। माता घर में है और सीमित है, जो मंच पर है और सार्वजनिक है उसकी उपयोगिता उतनी ही विस्तृत है। ऐसे मूल्यों में रहने वाले समाज में स्त्री की कीमत मनोरंजन के माप से हो तो अनहोनी बात नहीं है।

पश्चिम में भी मुझे यह अनुभव हुआ था कि स्त्री का मान कम है, कम होता जा रहा है। इसमें मैं संस्कारिता की हानि देखता हूँ। संस्कृति के केन्द्र में निश्चय ही माता है, पत्नी है। ये दोनों दायित्व

के पद हैं, पर दायित्व की गुरुता से नहीं मनोरंजन के मान से यदि स्त्री की कीमत स्थिर होगी तो उस समाज में पुरुष के बराबर आकर स्त्री सहयोगी कभी बन नहीं सकेगी, अनुवर्ती ही रहेगी।

आज क्या है ? पैसा व्यक्ति के स्तर का परिचायक है। विवाह उससे बचा कैसे रह सकता है। अर्थात् वर कन्या को इतनी मोटी रकम के साथ ही स्वीकार करेगा, अन्यथा नहीं। विवाह का बाज़ार ऊँचा है और कन्याएं माता-पिता के लिए चिंता का कारण बनी हैं। उधर शिक्षा बढ़ रही है; शिक्षा के साथ कन्या की माँग ऊँची चढ़ती है, उसी हिसाब से वर की माँग ऊँची चढ़ जाती है। इस चक्र में विवाह पचास फीसदी के करीब तो समय पर हो पाता नहीं है; फिर ये युवती और युवक पढ़े लिखे होते और सधी-बँधी लीक के प्रति अश्रद्धा सीख चलते हैं। विवाह की प्रतीक्षा और विवाह का आदर उनके मन में से शनैः शनैः उठता जाता है। परिणामतः घर गृहस्थी की संस्था शिथिल और दुर्बल होती है।

स्त्री पुरुष का प्रश्न यहीं भंवर में घूम रहा है। उनके बीच आकर्षण तो प्रकृति ने ही सिरजा है। विवाह की सुविधा समाज की ओर से सहज और सुलभ है नहीं। उधर पारिवारिक कुल-शील की मर्यादा-परंपरा है, यद्यपि अब शिथिल है। खुला क्षेत्र नहीं है और खुले चुनाव की पद्धति नहीं है। न पहले जैसी अलग थलग बिरादरियां हैं। सो खासी उलझन है और जान पड़ता है कि परमेश्वर की ओर से जो यह प्रेम की शक्ति सिरजी गई है, सो आदमी के हाथ आकर गड़बड़ी ही कर रही है, रचना नहीं कर पा रही है।

लोग अर्थ की भाषा में इकोनोमी का विचार करते हैं। सच में काम की इकोनोमी और भी मौलिक है। प्रेम का यह अपरंपार धन हमें सहज प्राप्त हुआ है। मुद्रा धन तो इतना व्यापक कभी बन नहीं सकता। प्रेम तो हर एक के पास है। महान् विचारक और नेता वह होगा जो इस घट-घट व्यापी प्रेम की शक्ति को मन के कैदखाने में से मुक्त करेगा और उसे ऐसे नियोजित करेगा कि परस्परता व्यापक और संपन्न होती जावे और सामाजिक संस्कृति

उत्तरोत्तर पुष्ट और उन्नत हो। अन्यथा प्रेम की यह दैवी शक्ति ही दानवी बन जायगी और अवरुद्ध प्रेम घृणा और द्वेष में परिणत होकर संहार कर निकलेगा।

अप्रैल, १९६०.

विवाह और व्यक्तित्व

व्यक्तित्व का पंथ भारत की पारिवारिक संस्कृति के लिए इस समय भारी पड़ रहा है। इन दोनों के बीच विवाह बिचारे की छीछलेदार हो रही है। नये विवाहों की विफलता की कहानियां इतनी ज्यादा कानों पर आती हैं कि सोचता रह जाता हूँ कि इस विवाह संस्था का आगे भविष्यत् क्या है ?

बात पिता पुत्र में हो रही है। पिता चव्वन वर्ष, पुत्र तीस वर्ष।

पिता—हाँ तो क्या बात है, बताओ ना।

पुत्र—अभी मैं कुछ कर नहीं रहा हूँ।

पिता—करोगे किसके लिये ? वह है नहीं, इसलिये करना भी तुम्हारे लिये जरूरी नहीं हो पाया है।

पुत्र—मैं क्या कमा रहा हूँ ? आप पर बोझ हूँ। बोझ और बढ़ाऊँ, यह कैसे हो सकता है।

पिता—आदमी बोझ होता है, यह कैसे तुमने मान लिया। प्रेम रहते तो बोझ होता नहीं है। तुम बोझ अपने को मानते रहो तो तुम में से स्फूर्ति निकलेगी ही नहीं। तुम अपने आपे से दबे रहोगे · · सुनो, जो आयेगी वह तुम्हारी विवाहिता होगी, यह तो ठीक, पर क्या घर की कुछ न होगी, तुम पत्नी को मान लो पाल संभाल नहीं सकते। पर घर को भी तो बहू चाहिये। तुम्हारी माँ कब तक गिरस्ती का भार उठायेंगी। उन्हें क्या अब सहारा नहीं मिलना चाहिये ?

पुत्र—मैं कुछ काम नहीं करने लगूँगा तब तक विवाह कैसे कर सकता हूँ। पाँच सौ रुपये मासिक से आय जब ऊपर जायेगी, उससे पहले मैं यह संभव नहीं देखता हूँ।

यह दोनों दो दृष्टियाँ हैं। इतना ही नहीं कि पिता चव्वन वर्ष से पीछे की ओर देखते हैं, पुत्र अपनी जगह से सामने दायित्व को देखते हैं। यह भी नहीं कि पिता को लाड़ के लिये बहू चाहिये, जिसमें पुत्र जिम्मेदारी अपनी मानते हैं। नहीं, दृष्टि दो हैं मूल से ही। एक दृष्टि आर्थिक है और दुविधा उत्पन्न करती है। दूसरी दृष्टि हार्दिक है और वह अर्थ को ध्यान में नहीं लेती है। यह भी हो सकता है कि पिता की दृष्टि आर्थिक होती, पुत्र की भावुक। अक्सर ऐसा होता भी है। बहुत-सी गिरस्तियों में पुरुष पैसे से पिस पिसकर उसके महत्व को अपने मन में काफी से ज़्यादा जगह दे लेता है। तब आवश्यक होता है कि गिरस्ती में एक सदस्य बढ़ाने से पहले, वह सौ बार सोचे।

विवाह में कन्या वर के यहाँ आती है। अब समाज में वर्ग कई हैं। निम्न माने जाने वाले वर्गों में कन्या बहू बनकर जाती है तो आते ही बहुत काम उठा लेती है। वह बड़ी सहायक होती है। निम्न श्रेणियों में रहन-सहन का आधार श्रम है। इसलिये एक सदस्य बढ़ने पर परिवार की श्रमशक्ति बढ़ती जान पड़ती है। यह लोग छोटी उमर में भी बड़े उछाह से ब्याह करते हैं और ब्याह कर घर में बहू लाने के लिये उलटे पैसा देने को तैयार रहते हैं।

बीच के वर्गों में आधार श्रम नहीं है। वहाँ बुनियाद में पूँजी हुआ करती है, या वेतन। कन्या आकर यदि उसको बढ़ाती नहीं है तो जान पड़ता है उससे खाने वाले सदस्यों में एक की वृद्धि हो जाती है। खर्च इस तरह कुछ बढ़ जाता ही है, आमदनी में बढ़वारी होती नहीं। इसलिये इन वर्गों में दहेज की प्रथा है। लड़की ली जायेगी तो तब जब उससे आगे गिरस्ती में कुछ सहारा भी हो। काम-काज का सहारा नहीं, पैसा पूँजी का सहारा।

सबसे ऊपर के वर्गों में फिर वह बात नहीं है। वहाँ सामाजिक महत्वाकांक्षा की प्रेरणा काम करती है। वहाँ श्रम का प्रश्न है, न धन का। वहाँ इसलिये महत्व के संबंधों में खानदान और रूप

की प्रधानता काम करती है।

इस सब परिस्थिति को लेकर विवाह का प्रश्न बड़ा पेचीदा हो गया है। कल ही एक अमरीकन बंधु पूछने लगे—

बात यह हुई कि हमारे बीच कहीं से बुजुर्ग शब्द आ गया। सबेरे सब ब्रेक फास्ट पर थे। तीन हम हिन्दुस्तानी, चौथे अमरीकन। बुजुर्ग शब्द हिन्दुस्तानी था, वाक्य अंग्रेजी। मैंने समझाते हुए कहा, बुजुर्ग यानी एल्डर। अमरीकन बंधु एकदम पूछ बैठे, बुजुर्ग द्वारा शासित परिवार और समाज अभी चल रहा है भारत में, या समाप्ति पर है?

मैंने कहा—ह्रास पर है, पर समाप्त होना नहीं चाहता…। सच यह कि मैं स्वयं उसकी समाप्ति नहीं चाहता। परिवार का नया रूप जो बस पति-पत्नी पर शुरू और समाप्त हो जाता है, माता-पिता से कट रहता है, मुझे कुछ बढ़कर नहीं मालूम होता।

वही बात है। समाज में परिवर्तन आ रहा है। कह सकते हैं कि भारत में शहर एक तरफ बढ़ रहा है, गाँव परंपरानुगत है। समाज व्यवस्था में परिवर्त्तन आ रहा है का आशय कि उसमें फटाव आ रहा है। इकोनॉमी ही बदल रही है। पहले जमीन से हम लगे थे, हमारी संस्कृति, पारिवारिक और सामाजिक, उसी के आसपास गुंथी थी। ग्राम केन्द्र था। अब प्रधानता उद्योग की है, कृषि गौण हो पड़ी है और उसके हिसाब से समाज और परिवार पर असर पड़ रहा है। हलन-चलन, आवागमन बहुत बढ़ गया है। इतना कि होटल का व्यवसाय आज बड़े व्यवसायों में से है। धर्मशालाओं की व्यवस्था खो गई है। आदमी इतना आता-जाता है कि परदेस में उसको सुभीता देना एक लाभ का धंधा बन गया है। इसी तरह क्लब हैं, सोसाइटियाँ हैं। इनका खिचाव रहन-सहन के तरीकों पर पड़ता है और सोच-विचार को अमुक दिशा देता रहता है।

भारत में इस तरह एक संक्रांति की अवस्था बड़ा तनाव अनुभव होता है। ठेठ गाँव का आदमी शहर में आकर पागल-सा

हो जाता है। इधर शहर वाले को अगर गाँव में बिठा दो तो उसके भी पागल होने में देर न लगेगी। इतना फर्क है दो दिशाओं में।

जीवन-प्रवाह इनमें से किसी ओर भी मंद नहीं है। उस रोज़ सिनेमा पर वह भीड़ थी कि क्या कहिये। कइयों को चोटें तक आई। पुलिस ने आकर लाठी के ज़ोर से स्थिति की रक्षा की। कारण, पता फैल गया था कि सिनेमा में सचमुच कोई सिने-तारिका पधारी हुई हैं!

और रामनवमी के रोज़ जमना स्नान के लिये आये हुए देहातियों की भीड़ भी दिल्ली में उससे किसी तरह कम न थी। कुम्भ में देखिये, अधकुंभी में देखिये, किसी धार्मिक मेले पर देखिये। अपार जन एकत्रित हैं।

भारत में यह शीत महाभारत का युग है। एक महाभारत वह था जिसमें से लोगों को परम धर्मग्रंथ मिला, गीता मिली, कृष्ण मिले और संस्कृति को एक स्थिर आधार मिला। वह महाभारत का युद्ध दो तरफ सजी-बजी कौरव और पांडव सेनाओं में हुआ था। साफ था सब कि कौन किधर है, कौन किधर है। एक कृष्ण बीच में थे जिनको अर्जुन और दुर्योधन ने इस तरह बांट लिया कि अकेले कृष्ण पांडवों को मिले, सेना आदि कौरवों को। कौरव-पांडव एक परिवार के थे, पर लड़ना भी जरूरी था। कुरुक्षेत्र यानी करने का क्षेत्र, असल में युद्ध का क्षेत्र ही है। वही फिर धर्मक्षेत्र, भी है। परिणाम, जो सचमुच के युद्ध में से प्राप्त हुआ, था एक घोर अवसाद और क्लांति। कौरव मरे, पांडव एक-एक कर मर गये, और जो भारत हरा-भरा था उजाड़ वीरान हो रहा। लेकिन उस युद्ध की घटना के मंथन में से महाभारत नामक अमर धर्म ग्रंथ मानव-जाति को प्राप्त हुआ। उससे गंभीर मानस-मंथन का चित्र दूसरा नहीं है।

वह महाभारत हिंसा के अस्त्र-शस्त्रों से उत्कट रूप से लड़ा जाकर अठारह दिनों में अपना परिणाम दे रहा। कौरव हारे

पांडव जीते। यद्यपि जीत हार से भी कड़वी और थोथी दीख आई, पर जैसे उसमें से इतना निष्पन्न हुआ कि धर्मपक्ष क्या था, अधर्म क्या था।

आज जो महाभारत भारत के प्राणों में मचा हुआ है, वह उतना प्रगट नहीं है। दल एक लकीर के दोनों तरफ निश्चित होकर कट-बट नहीं गए हैं। कारण, युद्ध मानस में है, अभी कर्म के क्षेत्र में नहीं है। यों कौरव पांडवों के महाभारत की भूमिका भी भीतर ही भीतर वर्षों से तैयार हो रही थी। अठारह दिन तो लपटें देकर वह सब जलता रहा जो कण-कण उन बरसों में सामग्री की भाँति जुटाया जाता रहा था, अतः हो सकता है कि वातावरण में व्याप्त आज का मानस-युद्ध कभी घटना में यहाँ कर्म-युद्ध बन कर-फट आए। संभव है कि प्रगट और प्रत्यक्ष होकर वह कुछ स्वस्थ भी बने। आज तो बहुत अस्वस्थ रूप में घुन की तरह वह भारत के प्राणों को खा रहा है।

राजनीति में कई दल हैं। नई स्वतंत्र पार्टी है। दल के रूप में सब एक जैसे हो जाते हैं। उनकी भेरियों और भाषाओं को अलग-अलग पहचानना मुश्किल होता है। पर उनके तुमुल के नीचे यह द्वि-दल-गत महाभारत काम कर रहा है। वह कि जिसे सभ्यता और संस्कृति का ही द्वन्द्व कह सकते हैं।

एक नई प्राप्ति हुई है। वह उपलब्धि है आधुनिक आर्थिक दृष्टि, आर्थिक सभ्यता। व्यवहार में ही नहीं, हेतु तक में वह आर्थिक है... किसको ब्याहा जाय? उसको कि जो ज़्यादा से ज़्यादा धन लाये। लड़की किसको दी जाय, उसको जो ज्यादा से ज्यादा कमाये। खेत में क्या बोया जाय, वह जो बिककर ज्यादा पैसा लाये। तम्बाकू? हाँ तम्बाकू...नहीं अफीम, वह ज्यादा पैसा लाती है...। अफीम? राम राम, क्या बुरा नाम लेते हो...पागल हुए हैं बुढ़ऊ तो, अफीम का अच्छा दिसावर है आजकल...गेहूँ! अरे, पैसा पास होगा तो गेहूँ खरीद कर के डालने में देर क्या लगती है! पर अफीम के सामने इस वक्त गेहूँ क्या...क्या लिख रहे हो? वही जो पैसा

लायें...ओह आप ! आप तो कालेज में थे, फिलासफी के लेक्चरार। यह शराब का ठेका ·· मियां, छोड़ो। क्या रखा था पढ़ाने में। अब देखो यह–

तो इसी में बरखुरदार अगर माने कि शादी उन्हें अभी नहीं चाहिये, पहले पैसा चाहिए, और उसके बाद जो बीवी होगी उनकी होगी, घर की बहू वगैरह नहीं होगी कि काम-धंधा पीटे और सास ससुर की सेवा में दुबली हुआ करे, तो इसमें ऐसा अनहोना क्या है ? इस सभ्यता में शख्सियत की मांग है। तुम हो सकते हो विनम्र और आज्ञाकारी, घर के लिये उपयोगी हो सकते हो और अच्छे और भले। लेकिन व्यक्तित्व चीज और है, वह अपने आपे को चमकाने से प्राप्त होती है !

और वह व्यक्तित्व सबका इष्ट है, पुरुष का, स्त्री का। तीस वर्ष तक तो व्यक्तित्व बनता नहीं। इसलिये विवाह उससे पहले हो, इसका अर्थ ही क्या ! सामान्यतः तीस वर्ष की अवस्था तक तो जीवन प्रयोगों में चला करता है। बाद कहीं वह अवस्था आती है जब आप अपने पर खड़े होते हैं। उस पकी मनोदशा में आप जिम्मेदारी लें तो ले भी सकते हैं।

यह मनोभाव हवा में भरा हुआ है। लड़के-लड़कियाँ इस कसरत से पढ़ रहे हैं कि किसी स्कूल-कालिज में दाखिला पाना मुहाल है। पढ़ते जाते हैं और पढ़ते जाते हैं। पढ़ाई के बीच उन मनोभावों से क्या घटनाएँ घटित होती हैं, उसकी बात यहाँ नहीं कहनी है। अन्दर क्या होता है, वही संगत है। प्रश्न पढ़े-लिखे लड़के-लड़की के आगे फिर जमने का आता है। जमना शुद्ध आर्थिक प्रश्न है। इसलिये पढ़ना पूरा होते ही पैसे के बाजार में वे लोग उतरते हैं, लड़की और लड़के दोनों। भावनाओं और वासनाओं का आदान-प्रदान भी उसी बाजार में होता है। बाजार का नियम अपना है। इसलिये पढ़े-लिखे युवक-युवतियों के मध्य जो स्थितियाँ और परिस्थितियाँ पैदा हुआ करती हैं, उनके गोरख-धंधे का पार नहीं है। व्यक्तित्व अर्थात् अहंमान, और बाजार

अर्थात् द्रव्यमान। इन दोनों मूल्यों और खिचावों को लेकर तरह-तरह के गुल खिलते हैं और ग्रंथियाँ बनती हैं।

विवाह इन हालतों में ऐसा बंधन हो आता है जो सुभीते का नहीं रह जाता। वह एक नियुक्त कार्यक्रम में डाल देता है। जिन्दगी का स्वाद कुछ और ही चीज़ है! ज़िम्मेदारियाँ उस स्वाद को खा जाती हैं। जिन्दगी व्यक्ति अपनी अपने हाथ में रखे तो उन्नति भी हो सकती है। कुछ इसी तरह की मनोदशा में दिल्ली में लाखेक आयुप्राप्त नवयुवतियाँ काम करती हैं, या खाली रहती हैं। नवयुवक उसी तरह उससे भी बड़ी तादाद में लगे रहते है, या भटकते रहते हैं। और वे दोनों परिवार के संदर्भ में अपना कहीं कोई निस्तार नहीं देखते हैं।

व्यक्तित्व का पंथ भारत की पारिवारिक संस्कृति के लिये इस समय भारी पड़ रहा है। इन दोनों के बीच विवाह बेचारे की छीछालेदर हो रही है। नये विवाहों की विफलता की कहानियाँ इतनी ज्यादा कानों पर आती हैं कि सोचता रह जाता हूँ कि इस विवाह संस्था का आगे भविष्यत् क्या है।

अप्रैल, १६६०.

ब्रह्मचर्य का प्रश्न

स्त्री-पुरुष के बीच आकर्षण तो है। वह वैज्ञानिक तथ्य है। आप उससे नाराज़ हों और लड़ें, या प्रसन्न हों और सराहें, यह आपके वश की बात नहीं है कि उसे मिटा दें (फिर) ब्रह्मत्व को साधने वाली ब्रह्म की वह चर्चा क्या है ?

बीस बरस बाद कल एक सज्जन से मिलना हुआ। उन्हें सज्जन कहना कम है, संत ही कहना चाहिए। पर वेश उनका रंगा नहीं है। बरसों घुटमुण्ड रहे, अब अंग्रेजी तौर के कटे-छंटे केश हैं। उस समय की बात याद करता हूँ कि----

वह बोले---दिनों से मेरे मन में अंग्रेजी तरीके के बाल रखने की वासना है। तुम क्या कहते हो ?

मुझे प्रश्न विलक्षण मालूम हुआ। कह दिया कि इसमें क्या बात है, रख लीजिये।

"कहते हो रख लूं ?"

असल में मैं गिरस्ती था, उनकी उलझन पूरी तरह समझ नहीं सकता था। सज्जन आचार्य थे, माननीय, और लोगों की उनके प्रति पूज्य भावना थी। उनका रहन-सहन तदनुसारी था। इसलिए उनके एकाएक फेशनेबिल समझे जानेवाले बाल रखने की बात सामान्य नहीं रह जाती थी, वह जैसे महा-प्रश्न बन आती थी। जोर पड़ना उसमें आवश्यक होता था। जैसे निश्चय पर आने में बड़े नैतिक साहस की आवश्यकता हो।

मैंने कहा---उसमें है क्या ? दबाकर उस इच्छा को वासना बनने ही क्यों देते हैं ? बाल रखिये और छुट्टी पाइये।

उसके बाद शायद है कि उन्होंने असमंजस में कुछ समय और भी भुगता हो। लेकिन बाल रख लिये, जो अब तक हैं। इससे पता

चलेगा कि वह किस धातु के बने हैं। एकदम खरे हैं और 'धुर के खोजी'। शांत और सौम्य। एक चीज उनमें बिल्कुल नहीं है और वह जल्दी। बोलेंगे तो धीरे, उठे-बैठे-चलेंगे तो धीरे। यहाँ तक कि जल्दी करेंगे तो भी धीरे। बाल ब्रह्मचारी और शरीर में संक्षिप्त। जीवन-भर कभी उनके शरीर को यह साहस हो सका हो कि वह एक मन भार से बढ़े, इसकी आशा नहीं है। जवानी में भी अपने शरीर के पास उन्होंने यह शक्ति नहीं होने दी होगी। काया उन्हें इतनी वशीभूत हैं। लेकिन अब अवस्था उनकी चौंसठ है।

मैं मिला तो कुछ देर बाद बोले—मेरा मालिश का समय होता है। बात कीजिये तो आइये।

घडी में समय देखकर उन्होंने यह कहा था। मैं उनके साथ उठकर दूसरे कमरे में आया। वहाँ उन्होंने कोपीन धारण की और शरीर को तेल से नहलाना शुरू किया। काम सब उनका धीरे होता है और मननपूर्वक। जैसे प्राण को कहीं अनुमति न हो, उसकी लगाम सदा अपने हाथ में हो। बोले—यही समय मेरा बातचीत का भी होता है।

इधर-उधर की कुछ जानकारी पाने के बाद पूछा—कहिये, इधर कुछ लिखना हुआ? वह—आपकी उस पुस्तक की तो मुझे याद है। उसके बाद?

सब कुछ उनके साथ मननपूर्वक होता है। कुछ चुप रहे, फिर हँसे, फिर बोले—तबके बाद तो यह निकला और तीन ग्रन्थ वे भी निकले। तुमने शायद देखे नहीं। लेकिन अब—वह ठहरे, जैसे कुछ सोचा, और कहा—अब तो-तीन घंटे यह मालिश का काम करता हूँ। यह ईश्वर का काम है। उसी तरह से करता हूँ। कहकर मुझे उसका सार समझने को स्वतंत्र छोड़ फिर हँसे।

हँसी उनकी बड़ी अकृत्रिम और निश्छल है। मेरे मन में उनकी बात तनिक भी व्यंग नहीं उपजा सकी। पर सुनकर सचमुच सुख नहीं हुआ।

शरीर भगवान् का मन्दिर है, इसमें शक ही क्या है। पर मन्दिर

की सफाई, धुलाई और मंजाई पर इतना उद्यम और ध्यान व्यय होते देखकर सीधे ऐसा नहीं लगा कि भगवान की महिमा बढ़ रही है। लगा ऐसा कि इस शरीर रूपी मन्दिर की ओर ध्यान शायद देर इसीलिए अतिरेक की आवश्यकता हुई है। मैं उस अनावृत्त संक्षिप्त काया को देखता बैठा रहा। मानना होगा कि बल उसमें भरपूर नहीं था। पर चौंसठ वर्ष के लिहाज से उस काया की त्वचा काफी कसी हुई थी, सिमटी-सिकुड़ी नहीं थी। तेल, सुनते हैं, काया के लिए अच्छी खुराक है। पश्चिम के लोग तेल के स्पर्श के शौकीन नहीं हैं, उनके पास कुछ अपना नुसखा होगा। क्योंकि काया के मामले में वे पीछे हैं, ऐसा इसी या किसी तरह नहीं माना जा सकता। हमारे पहलवान लोग बदन को खूब तेल पिलाते हैं। ऐसे बदन मस्त रहता है। इन बाल-ब्रह्मचारी ने अपनी नीतिदीर्घ काया को अब चौंसठवें वर्ष में आकर तेल पिलाने, और खूब तेल पिलाने की आवश्यकता भगवद्-भक्ति के नाम पर अनुभव की हो तो इसमें कुछ अनुचित और अन्यथा नहीं है। केवल विचार यह होता है कि अपने समय पर उस काया के प्रति उदासीनता फिर क्यों बरती गयी ? क्या तब शरीर को व्यायाम दिया गया था ? तेल-मर्दन किया गया था ? साज-संभार किसी ओर से उस शरीर को प्राप्त हुई थी ?

यहाँ मेरे मन में ब्रह्मचर्य का प्रश्न उठता है। काया को सुखाने का भी एक सिद्धान्त है। यानी कि आत्मा और शरीर में विरोध है, आत्मा को बढ़ाने के लिये शरीर को घटाना होगा। शरीर को क्षीण करने की शर्त के बिना आत्मा को पुष्ट ही कैसे किया जा सकता है ? इस सिद्धान्त से जो तर्क-विचार प्राप्त होता है, उस सम्बन्ध में मुझे कुछ नहीं कहना है। साधक हैं जो उस दिशा की साधना करते हैं, पूरी निष्ठा और पूरे हठ के साथ करते हैं। दूसरे इसे कृच्छ्र साधना कहें तो कहें। इसमें से जो मिलता होगा वह वही जानते हैं।

लेकिन शरीर जिन्हें मन्दिर है, और शरीर की सेवा जिनके लिये

ईश्वर की उपासना है, जाने क्यों उन्हें मैं कृषकाय नहीं देखना चाहता। ऐसे लोगों में वर्जन-त्यजन भी विशेष दीखता हो तो संगत नहीं लगता।

कृच्छ्र साधना के ब्रह्मचर्य का एक रूप होगा। शरीर और आत्मा में यदि बैर प्रतीत होता हो तो पुरुष और स्त्री में भी बैर डालकर चलना सही मालूम होगा। बैर मानसिक नहीं, केवल शारीरिक और सैद्धान्तिक। वहाँ पुरुष के लिए स्त्री-दर्शन अवैध हो जाता है, और स्त्री के लिए पुरुष की उपस्थिति उसी प्रकार अविहित बन जाती है।

आप कहेंगे, ऐसे संसार कैसे चलेगा ?

वह कहेंगे, धर्म ऐसे ही चल सकता है। संसार का चलना कौन बड़ा महत्वपूर्ण है कि उसके चलाने की चिन्ता की जाय, सार तो यहाँ धर्म है। उस साधना में ही जीवन की सिद्धि है।

लगता है, हमारे सज्जन संत का यौवन कुछ इसी धारणा में बीता। बीता हुआ फिर तो हाथ आता नहीं। पर सद्ज्ञान जब हो तभी अच्छा। युवावस्था बीत जाने पर हो, तो उस कारण कोई बुराई तो उसमें हो नहीं जाती। प्रतीत होता है कि शरीर ढलने की वय में उन्हें सम्यक् दर्शन प्राप्त हुआ कि ओह, वह तो भगवान का मन्दिर है। उसका ध्यान सबसे पहला कर्तव्य है। स्वस्थ शरीर में आत्मा स्वस्थ रहेगी। रुग्ण और दुर्बल काया में आत्मा को भी विकल और अशान्त रहना पड़ेगा।

मुझे साधना के इन दोनों रूपों के सम्बन्ध में कुछ कहना नहीं है। प्रश्न केवल इतना मन में उठता है कि स्त्री और पुरुष के भेद के प्रति क्या वृत्ति रखी जाय ? ब्रह्मचर्य है, तो क्या है ?

स्त्री पुरुष के बीच का आकर्षण तो वैज्ञानिक तथ्य है । आप उससे नाराज हों और लड़ें, या प्रसन्न हों और उसे चाहें यह अवश्य आपके वश की बात है।

कल्पना की गयी है ऐसी दुनिया की कि जहाँ पुरुष ही पुरुष हो, स्त्री हो नहीं। या स्त्री ही हो, पुरुष नदारद हो । ये कल्पनाएँ

मनोरंजन के लिए की गयी हैं। उनसे तर्क को कुछ व्यायाम भी मिलता है। लेकिन जान पड़ता है कि सृष्टि के मूल में यह जो भेद डाला गया है, और फिर उनके क्षणिक अभेद में सृष्टि के मंत्र को भर दिया गया है, तो इसमें गूढ़ क्या आशय है ? हमारा अणु-विज्ञान अणु-विघटन तक पहुँचकर भी जैसे इस प्राथमिक भेदाभेद का पार नहीं पा सका है। मनुष्य जाति में ही स्त्री-पुरुष नहीं है, सारी समष्टि में यह भेद व्यापा हुआ है और इसीकी क्रिया-प्रतिक्रिया में से समूचा जगत्-व्यापार संभव और संपन्न हो रहा है।

ब्रह्मचर्य क्या इस समष्टि व्यापार से तत्सम होना ही है ? मैं कल मिले संत ब्रह्मचारी के तीन घंटे तक तेल में नहाते हुए शरीर की याद करता हूँ और शून्य में पूछता रह जाता हूँ कि ब्रह्मत्व को प्राप्त कराने वाली ब्रह्म की वह चर्या क्या है ?

जुलाई, १९५९.

विवाह और प्रेम-१

सूरज के प्रति धरती को और धरती के प्रति मानव को जो थामे रखता है, वह तत्व अखंड है। इन असंख्य तारा नक्षत्रों को ब्रह्मांड के बीच वही अपनी-अपनी कक्षा में धारण रखता है। उस महत्व को जैनेन्द्र, चर्चा में न लाओ। वह प्रेम है। प्रेम ईश्वर है। ईश्वर के साथ विवाह को चर्चा में लाने की विडम्बना में क्यों पड़ते हो ?

विवाह सानंद संपन्न हुआ। मित्र सब सम्मिलित हुए। विशेष कर प्रोफेसर मित्र। उनकी भावनाएँ सच्ची थीं। उन्होंने गद्गद भाव से आशीर्वाद दिया कि दुलहिन सीता-सावित्री जैसी सती भार्या हो और दम्पत्ति का जीवन आर्य-धर्म पालन करता हुआ प्रशस्त से प्रशस्ततर होता जाय।

यह तो ठीक है। लेकिन अगली बार हमारे बीच प्रश्न उठा---और प्रेम ?

सब जानते हैं कि समस्या कैसी विकट है। हत्याएँ होती हैं। आत्महत्याएँ, भ्रूण हत्याएँ होती हैं। उन हत्याओं में मृत्यु के क्षण से पहले जीतेजी जो होता होगा, उसका अनुमान भी कठिन है। अमित क्लेष, कलह, अनाचार, अत्याचार, छद्म, कपट, झूठ, चोरी इत्यादि। सबके मूल में यह चीज़ कि विवाह एक है, प्रेम दूसरा। दोनों अनिवार्य हैं और दोनों अनमिल। जहाँ उन्हें अनायास या आयासपूर्वक मिला दिया जाता है, वहाँ भी विपत्ति टलती बिलकुल नहीं दीखती। बल्कि वहाँ संकट और भी घोर दिखाई देता है। क्योंकि प्रेम के विवाह में आगे प्रेम नहीं रहता, इतना ही नहीं, बल्कि प्रेम को घृणा बनना पड़ता है। अप्रेम में तो भी ज्यों-त्यों साथ रह लिया जा सकता है, पर घृणा तो हर घड़ी काटती है और दूसरे को पास भी सहना असंभव बना देती है।

हमारे बीच यही प्रश्न आया कि क्या हो ? प्रोफेसर ने कहा–कि प्रेम को हिसाब से बाहर रखना चाहिये। व्यवस्था की मर्यादा पर दृढ़ रहना चाहिये। ऐसे प्रेम और विवाह दो समानान्तर रेखा में रहेंगे। और क्योंकि कभी न मिलेगें, इससे एक दूसरे को काटेगें भी नहीं।

मैंने कहा––समानान्तर रहना चाहिये, यही न ? पर रहते हैं ? रह सकते हैं ? और यह कि विवाह व्यवस्था का अंग है, हिसाब की जमीन पर रहना चाहिये, सो तो यहाँ हो ही रहा है। भारत की परंपरागत पद्धति है कि विवाह जिनका होता है वे नहीं करते, माता-पिता करते हैं। अब विवाह कच्ची उमर में नहीं हो सकता, क्योंकि कानून बन गया है। उमर पकने पर जो विवाह होता है उसमें कठिनाई बढ़ गई है। तर्क आने लगा है कि विवाह माता-पिता का थोड़े ही है कि निर्णय वे करें। हम देखें भालेगें, हम करेंगे। यहाँ फिर दृष्टि-भेद हो जाता है। अधपकी आँखें और तबीयतें रूप और तन को महत्व देती हैं। बुजुर्ग धन और कुल को पहले देखते हैं। उम्र जरा और उठे और बुद्धि और पके तो वहाँ कैरियर का ध्यान विशेष हो जाता है। इस तरह आर्य पद्धति पर ज़ोर पड़ रहा रहा है, लकीरों की समानान्तरता टिक नहीं पाती। तब तो ठीक था जब प्रेम उपजने की आयु से पहले ब्याह हो जाता था। तब प्रेम विवाहान्तर और अनुकूल होता था, यों बाद में कुछ ज़रूरत पड़ गई तो एक-आध उपपत्नी हो जाती थी। लेकिन धर्मपत्नी के पद पर आंच नहीं आती थी। उस पुरातन का अवशेष अब भी भारत में है। लेकिन समझा जाता है कि इसी कारण वह युग की दौड़ में पीछे हैं। गृहस्थ धर्म भारत में इतना प्रधान रहा है कि राष्ट्रधर्म ठीक तरह पनप नहीं पाया है। पारिवारिकता यहाँ इतनी मजबूत है कि नागरिकता और सामाजिकता उसी कारण कमजोर है। तुम्हारे चाहिये को मानकर विवाह और प्रेम के स्तर समानान्तर होकर रहजानेवाले नहीं दीखते हैं। तब फिर बताओ क्या हो ?

"अन्त में क्या होगा," प्रोफेसर ने कहा— "यह तो मैं बता सकता हूँ। क्योंकि कोई भी बता सकता है। होगा यह कि प्रेम ही रहेगा। शेष की आवश्यकता न रहेगी। किसी के स्वर्ग को परख लो। स्वर्ग अपने-अपने सबने रचे हैं। सबमें कितनी भी भिन्नता हो, इस बात में समानता है कि प्रेम वहाँ मुक्त है। और वहां मर्यादा नहीं है, अभाव नहीं है। यह अन्त की बात है; बीच में दूसरा कोई मार्ग नहीं दिखाई देता सिवा इसके कि मर्यादा की मज़बूती से रक्षा की जाय। इसमें जानें जाती हैं तो जायं। लेकिन और क्या उपाय है ? मैं देखता हूँ कि इसमें ख्रीस्त को सूली चढ़ना पड़ा, गांधी को छाती में गोली खाकर मरना पड़ा। क्यों, क्योंकि वह प्रेम का राज चाहते थे। राज प्रेम का स्वर्ग से पहले कैसे हो सकता है ? इसलिये राज जिनका था, या जो चाहते थे, उन्हें इन लोगों को मौत के घाट उतारना पड़ गया। मैं समझता हूँ, इसके सिवा कुछ नहीं किया जा सकता कि व्यवस्था की हर कीमत पर रक्षा की जाय। राम मर्यादा पुरुषोत्तम हुए तो क्यों ? क्योंकि उन्होंने इस तथ्य को पहचाना। सीता उनकी सती थी तो क्या, उसे देश-निकाला देने से वह बचे नहीं। इसमें जो पीड़ा मिली, वह पीते गये। अंत तक पीते गये, और मर्यादा को अक्षुण्ण रखा। कुछ भी हो पुरुषोत्तमता की मांग से हम किसी को बचा नहीं सकते।"

धीमे से मैंने कहा—और कृष्ण ?

कृष्ण ! दोहराकर वह हँसे। कृष्ण को बात के बीच में लाना खतरनाक है। राम उत्तमोत्तम हों, पुरुष तो हैं। कृष्ण साक्षात् लीलामय हैं। भगवद्गीता में व्यास ने उन्हें भगवान बना दिया सो नहीं। हज़रत स्वयं थे ही वह। वह लीला के आदमी थे। व्यवस्था नहीं, इतिहास उनका क्षेत्र था। कौन उनके लिये सिंहासन रखा था ? और कौन रावण था जो उनकी सीता को हर ले गया था ? कृष्ण के आगे वैयक्तिक प्रश्न आया ही नहीं। व्यवस्था सदा वर्त्तमान का प्रश्न है। कृष्ण मानो इतिहास के काल की भूमिका

पर रहे। इसी से ऐसा लगता है कि कृष्ण को विवाह छूता ही नहीं। छियानवें हज़ार तक रानियाँ लोक-कल्पना ने उन्हें दे दी हैं। उनसे सामाजिक प्रश्न और उलझ जायेंगे। गीता उन प्रश्नों के लिये नहीं है। जो मेरू प्रश्न वहाँ हैं, वह आध्यात्मिक है। इससे कृष्ण को बीच में लाना संकट को लाना है।

मैंने कहा—इसी से कृष्ण क्या और अनिवार्य नहीं है? अधिक संगत और उपयुक्त नहीं है? समानान्तर की बात कहकर आपका प्रश्न टलता है। ख़्रिस्त सूली चढ़े, गांधी गोली से मरे। तो यह करके उस समय का वर्त्तमान छुट्टी पा गया हो लेकिन हम जानते हैं कि भविष्य उनसे छाया रहा। हम जो उस वर्त्तमान में बन्द नहीं है, उसके बाद के इतिहास को भी देखने के लिए खुले हैं, सो हम कैसे उनको और उनके प्रेम के आग्रह को विचार से परे कर सकते हैं!

"—तो तुम प्रेम को चाहते हो?"

"आप नहीं चाहते?"

"यही कहता हूँ कि यह चाहने की चीज़ है। यानी बस मन की, आगे उसको नहीं ले जाना चाहिये।"

फिर वही चाहिए! मैंने कहा—आप 'चाह' का निषेध करेंगे, 'चाहिये' पर ज़ोर देंगे। सुनिये, यह होनेवाला नहीं है। अगर प्रेम को आप चाहते हैं तो सारा 'चाहिए' भी उसमें आ जाता है। 'चाह' से आपका 'चाहिए' अलग क्यों जाता है। 'चाह' प्रेम में है, 'चाहिये' आपका विवाह में। तो बताइये कैसे चलेगा?

प्रोफेसर और सौम्य हुए। उनकी वाणी में स्निग्धता आई। स्वर धीमा हुआ, बोले—तुम ठीक कहते हो। चाह एक है, चाहिये दूसरा। चाह अपनी ओर से है, चाहिये को समाज की ओर से लेना होगा। जानता हूँ, व्यवस्था कोई स्थिर नहीं है। वह वर्त्तमान की चीज़ है और भविष्य क्षण-क्षण वर्त्तमान को बदल रहा है। इस तरह तुम चाहो तो मैं मान लूँगा कि समाज का प्रश्न ऐतिहासिक प्रश्न नहीं है, तात्कालिक है। वह मौलिक प्रश्न नहीं, कुछ सीमित है। लेकिन क्या हम वहाँ जाकर बात करना चाहते हैं जहाँ न माता

है, न पिता है, न पति है, न पत्नी है; केवल नर और मादा है, स्त्री और पुरुष है ? उस तल की बात तो अपनी नहीं है। कारण, न वहाँ विवाह है, न प्रेम।

मुझे बुरा मालूम हुआ। मैंने कहा, उस तल पर समस्या ही नहीं है। लेकिन जहाँ काम से आगे प्रेम की भी सृष्टि हुई है, उस मनुष्य में और उस मनुष्य के समाज में तो प्रश्न होता ही है। विवाह उस प्रश्न के उत्तर के लिये आदमी ने पैदा किया है। मैं पूछता हूँ कि क्या विवाह के अनेक रूप नहीं रहे ? सामूहिक, सामुदायिक विवाह क्या इतिहास में नहीं मिलते ! फिर विवाह के किसी एक रूप पर रुक कर इतिहास कैसे चल सकता है। उत्तरोत्तर क्या हमें अपनी व्यवस्था में उसी नियम को नहीं पहचानते और उतारते जाना है, जो इतिहास और विकास में से अपनी चरितार्थता का विस्तार करता आया है। और वह क्या प्रेम ही नहीं है।

देखो, देखो, प्रोफेसर ने कहा—मुझे घेरो नहीं। प्रेम के पास मैं जाना नहीं चाहता हूँ। सूरज के पास जाय तो आदमी का क्या होगा ? वह राख हो जायगा कि नहीं ? सूरज से पृथ्वी जीती है, पृथ्वी पर हम जीते हैं। पृथ्वी वह इसलिये जी रही है कि उसके गर्भ में अब तक सूरज मौजूद है। जिस दिन भीतर वह ठण्डा हो जायगा, पृथ्वी का नाम-निशान मिट जायगा। इसलिये उसकी बात मुझसे क्या करते हो जो सबका आधार है ! और सूरज ईश्वर नहीं है। पर सूरज के प्रति धरती को और धरती के प्रति मानव को जो थामे रखता है, वह तत्व अखंड है। इन असंख्य तारा नक्षत्रों को ब्रह्मांड के प्रति नहीं तो क्या अपनी-अपनी कक्षा में धारण रखता है। उस महत्तत्व को जैनेन्द्र, चर्चा में न लाओ। वह प्रेम है। प्रेम ईश्वर है। ईश्वर के साथ विवाह को चर्चा में लाने की विडम्बना में क्यों पड़ते हो ?

आगे बात कोई क्या ले जा सकता था। और कहकर प्रोफेसर कातर दिखाई दे आया। मैं चुप रह गया।

जुलाई, १६५६.

विवाह और प्रेम-२

जान पड़ता है कि सृष्टि के मूल में यह जो भेद डाला गया है और फिर उनके क्षणिक अभेद में सृष्टि के मन्त्र को भर दिया गया है तो इसमें गूढ़ क्या आशय है ? हमारा अणु-विज्ञान-अणु विघटन तक पहुँच कर भी जैसे इस प्राथमिक भेदाभेद से पार नहीं पा सका है। मनुष्य जाति में ही स्त्री-पुरुष नहीं हैं, सारी समष्टि में यह भेद व्यापा हुआ है, और इसी की क्रिया-प्रतिक्रिया में से समूचा जगत-व्यापार सम्भव और सम्पन्न हो रहा है।

एक पाठक लिखते हैं—

गतांक में विवाह और प्रेम पर आपका लेख पढ़ा। मुझे आपसे शिकायत है। आप यहाँ के प्रश्न को वहाँ आसमान में ले जाकर उड़ा-सा देते हैं। उपन्यासों में भी आपकी यही आदत है। ऐसे पढ़नेवाले चक्कर में रह जाते हैं और उन्हें प्रकाश नहीं मिलता. . . आप दिल्ली रहते हैं। दिल्ली में कुछ दिन पहले हुई घटना की क्या मैं आपको याद दिलाऊँ। एक प्रसिद्ध होटल में दो प्रेमी ज़हर खाकर मर गये। काफी सनसनी का समाचार था। आये रोज़ ऐसी घटनाएँ होती हैं। तत्वज्ञान में उड़ने से क्या होगा। उससे जानें बचती हुई नहीं दिखाई देतीं। व्यावहारिक कुछ कहिये जिसका परिणाम हो। आशा है आप इस पर ध्यान देंगे।

जिस घटना का पाठक ने उल्लेख किया है, वाकई चौंकानेवाली है। पत्र में पहले छपा था कि वे पति-पत्नी थे। निकला कि पति-पत्नी थे, पर परस्पर नहीं। पति दूसरे के थे, पत्नी भी दूसरे की थी। दो परिवारों में दो पीढ़ियों से परिचय चला आता था। होते-होते घनिष्ठता हो गई। परिवार चुस्त आर्यसमाजी थे। मध्यवित्त श्रेणी के और अच्छे पढ़े-लिखे। प्रेमी लोग बहाना देकर दिल्ली

आये तो वहाँ किन्ही सम्बन्धियों को खबर नहीं दी। रात को साथ ज़हर पिया और लिपटकर जो सोये तो सबेरे लाश मिली ?

इस घटना ने मुझे दहला दिया था । मैं उसके ब्यौरों में भी गया था। एक घनिष्ठ मित्र के निकट सम्बन्धी वे निकले ! इससे घटना के अंतरंग का भी कुछ पता चला। मैं उसपर कई दिनों तक चिन्ता में रहा कि दो जानों का जाना ज़रूरी किस कारण हुआ। अभी दोनों की खुलती वय थी। संभावनाओं से भरे जीवन थे। वह भीतर क्या चीज़ थी जिसने उनके लिये जीवन को भारी कर दिया और मौत को हल्का बना दिया। कोई बहुत बलशाली वह चीज़ होनी चाहिये कि जिसके मुक़ाबले में यह जवान लोग असहाय निकले। इतने कि मौत का सहारा लेकर बबाल से छूटने की ही एक राह उन्हें रह गई।

कोई न होगा जो दोष उन मरनेवालों का न माने। उनकी भरपूर भर्त्सना की जा सकती है। लेकिन मरकर वे प्रश्न के दायरे से बाहर हो जाते हैं और सोचने की बात यह रह जाती है कि समाज इस अपनी हानि से कैसे बचे। दो कीमती जानें गईं। उनकी सब संभावनाओं के लाभ से समाज का वंचित होना बुरा है। क्या हो कि ऐसी क्षति से समाज आगे बचे।

यह कि दोनों पापी थे, पाप भी उनके साथ गया और यह अच्छा हुआ। यह कहनेवाले लोग आशा है अधिक नहीं है। कर्म का फल मिलता है, इस सिद्धांत पर हम उन प्राणियों के प्रति करुणा की आवश्यकता से बच सकते हैं। पर करुणा का प्रश्न नहीं है। सीधे हिसाब का प्रश्न है। समाज को जो घाटा सहना पड़ा है, उसका क्या हो ? या कि यह माना जाय कि समाज का कुछ अलाभ हुआ ही नहीं, बल्कि लाभ हुआ। यानी लोगों की आंखें खुलीं कि अवैध प्रेम का ले देकर यह अंत हुआ करता है !

याद रखना चाहिये कि यह समाज की ओर से डाला गया दण्ड न था। तब शायद कहा भी जा सकता कि समाज के हित में सोच विचार कर ऐसी दो जानों को ख़त्म करना उचित समझा गया।

बात वैसी नहीं है। समाज से मुंह चुराकर यह लोग समाज को दगा दे गये हैं। मेरा मानना है कि वह समाज जड़ है जो ऐसी बातों से चौंकता नहीं है और अपना लेखा-जोखा लेने को ही तैयार नहीं होता है।

मरने की घटना से हम चौंकते हैं। लेकिन प्रश्न असल में उतना अनौखा नहीं है। वह सवाल उठता ही रहता है। मानव सम्बन्धों के लिए समाज की ओर से कुछ विहित नियम होते हैं। लेकिन मानव मन सदा उनकी दीवारों से टकराया करता है। नियम चलते हैं, पर मन पर नहीं चलते। बल्कि नियमों की ताकीद होती है, इसलिये मन और भी स्वच्छन्द होना चाहता है। ऐसे वह पैदा होता है जिसे पाप कहते हैं। सब जानते हैं पाप में एक अपना स्वाद रहता है। पापपन हटने से स्वाद कम हो जाता है। इस तरह जीवन में तनाव पैदा होता है। प्रतिष्ठा का स्वाद और पाप का स्वाद। ये उलटे स्वाद जीवन को खींचते रहते हैं। कभी तो ऐसा होता है कि पाप अपनी प्रतिष्ठा का अलग निर्माण करता है। अन्डर-वर्ल्ड जिसे कहते हैं, उसका यही हाल है। वहां पाप लज्जा की नहीं गर्व की वस्तु बनता है। लोग उसका वहां गौरव करते हैं, उद्दण्डता और दुस्साहस वहाँ गुण होते हैं।

यह अन्डर-वर्ल्ड मामूली तौर पर ढँका रहता है। भद्र लोग उससे अनजान रहने में कुशल देखते हैं। पर समाज का वह कम अंग नहीं है। कानून और अपराध लगभग समतोल हैं। मानों दोनों पलड़े एक दूसरे को संभालते और संतुलन देते हैं।

यह ऊपर की बात इसलिये कही जा रही है कि भद्र श्रेणी, जो अधिकांश मध्यवित्त हैं, पाप के प्रति कुछ वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाये। ऊपर की घटना भावुक दृष्टिकोण का परिणाम है। यदि हम तनिक तटस्थ, अनासक्त और वैज्ञानिक वृत्ति रखें तो मुझे लगता है कि परस्पर सह्यता बढ़े और दुर्घटनाएँ कम हों।

कौन है जिसका मन पूरी तरह काबू में है। वे लोग जो समाज के व्यवस्थापक और न्यायकर्ता हैं, अपने को टटोलकर देखें।

क्या पाप उनमें अविद्यमान है ? विवेक में और वासना में क्या उनके भीतर भी युद्ध मचा नहीं रहता है ? विवेक को वह प्रतिष्ठा देते हैं, यह ठीक है। लेकिन वासना का क्या करते हैं ? यह अपने सम्बन्ध में वह खुलकर पहचानेंगे। तो मालूम होगा कि पाप के प्रति उनका दृष्टिकोण बदल रहा है। पापी के प्रति सहानुभूति बढ़ रही है। साथ ही पाप के प्रति असहिष्णुता भी घट नहीं रही है। पापी के प्रति सहानुभूति पाप से लड़ने में हमें बल दे रही है। यदि पापी को हम सहानुभूति नहीं दे पाते हैं तो इसी कारण कि कहीं हम अपने भीतर पाप को अवकाश दे रहे होते हैं। इसी कारण देखते हैं कि बाहरी दण्ड से पाप का उपचार नहीं हो पाता।

वे युवा लोग क्यों मरे ? क्योंकि सामना वे नहीं कर सके। उन्हें इतना डर था अपने बुजुर्गों का। उनमें निश्चय था कि वे सभी उनको समझने को तैयार न होंगे। यहाँ से उनमें, अर्थात् बुजुर्गों और जवानों में, दूरी पैदा हो गई। विवाह के अपने साथी के प्रति भी पति-पत्नी यह साहस नहीं पा सके कि अपने को खोल दें। यहाँ से चोरी और झूठ की आवश्यकता उपजी। इस कारण उस आकर्षण में पाप का रस पड़ने लग गया और आकर्षण उत्कट और अनिवार्य बनता चला गया। झूठ और चोरी के सहारे ने उस आकर्षण को धार दी। किसी तरफ से भी सचाई की धूप उसे नहीं लगने दी गई। पति ने अपनी पत्नी से छिपाया, उधर पत्नी ने अपने पति से रहस्य रखा। इसमें से उस वासना को तीखी धार मिलती चली गई। कहीं किसी के प्रति यदि विश्वासपूर्वक यह सचाई खोल दी जाती तो निश्चय है कि धार उसकी इतनी तीखी न रह जाती। पर ऐसा नहीं हो पाया। नहीं हो पाया इसमें मैं दोष का बंटवारा नहीं कर सकता। वह काम अवैज्ञानिक है। लेकिन इतना कहा जा सकता है कि उन जवान लोगों के आसपास वह स्निग्ध, उदात्त और मुक्त वातावरण न था कि जहाँ पाप को स्वीकार करना संभव हो सकता। मानों लौट लौटकर पाप अपने पर ही आता। और फिर कसकर अपने को बंद कर लेने को विवश पाता था।

मान लीजिये कि जिनमें प्रेम था, उनका ही परस्पर विवाह हुआ होता। यानी एक दूसरे को पाने और भोगने की उत्कट लालसा जिनमें हुई वे समाज की स्वीकृति के साथ पहले ही एक दूसरे को सहज मिले हुए होते। भोग उन्हें दुष्प्राप्य न होता बल्कि नित्य प्राप्त जैसा हो जाता–तो क्या होता ? तो मुझे निश्चय है कि वहाँ विरक्ति पैदा हो गई होती। तब संभव हो सकता कि अपनी विवाहित पत्नी, जो कि कदाचित् तब मित्र की पत्नी होती, उनके लिये वासना का कारण बन जाती। प्रेमिका के लिये प्रेम इसलिये होता है कि वह पत्नी जो नहीं है। यानी मन प्राप्त के प्रति आकर्षण अनुभव नहीं करता, अप्राप्य पर जाता है। बिलकुल आवश्यक नहीं है कि प्रेयसी पत्नी से अधिक सुन्दरी हो, आवश्यक यह है कि उधर दुष्प्राप्यता का बोध हो।

मेरे मन में तनिक संदेह नहीं है कि यह रोमांस कुछ दूर जाकर अपना रस खो देता। तब दोनों अपने-अपने घर की ओर मुँह करते। तब वे जान जाते कि रूप की रंगीनी जो दीखती है सो अपनी तृष्णा के कारण है। तब आगे द्वंद्व उनमें तीव्र न होता और गिरिस्ती में संकट उपस्थित न होता।

पर वह नहीं हो सका। परिवार चुस्त आर्यसमाजी थे। इसका आशय क्या मैं यह ले सकता हूं कि नैतिकता के संबन्ध में अति-रिक्त कड़ी निगाह थी। यदि ऐसा हो तो मैं मानूंगा कि दुर्घटना में उसने भी कुछ सहारा दिया। मध्यवित्त श्रेणी में अक्सर यह होता है। नीति का दबाव अपराध की ओर वृत्ति को विचलित करता है। मानव स्वभाव तो सब जगह एक है। लेकिन जहाँ दमन उतना आवश्यक नहीं, जहाँ मन और भाषा के लिये तनिक खुले रहने का अवकाश है, यहाँ गाँठ इतनी कसती नहीं है। और भंवर बीच में पड़ते भी है तो भी नाव टूटती नहीं है और जीवन आगे बढ़ जाता है। समय बीतने पर यह अनुभव व्यक्तित्व को एक सामर्थ्य और समृद्धि दे जाता है। देखा गया है कि अपनी-अपनी जवानी में दोनों साथी ऐसे भंवरों में पड़े हैं। लेकिन धीरज खोया नहीं

है। और आगे जाकर उनका सम्मिलित दांपत्य उस कारण और प्रगाढ़ बना है। वासना का झोंका आता है लेकिन निकलकर चला जाता है। बुजुर्ग लोगों के लिये अवसर है कि वे यह पहचानें। उनके व्यवहार में यदि यह समझ प्रगट होती हुई दीखेगी तो मेरा खयाल है कि जवान लोगों को इससे बड़ा लाभ होगा। वे हारेंगे नहीं, टूटेगें नहीं और यह खट्टे-मीठे अनुभव अंत में उनको जीवन की पहचान देगें और स्थिरता भी देगें।

यह कहना बहुत आवश्यक है कि नैतिक वह नहीं है, जो प्रेम-हीन है। नीति का उद्गम स्वयं निछावर प्रेम है।

अगस्त, १९५९.

प्रेम और विवाह-१

कौन है जिसका मन पूरी तरह काबू में है। वे लोग जो समाज के व्यवस्थापक और न्यायकर्त्ता हैं, अपने को टटोलकर देखें। क्या पाप उनमें अविद्यमान है? विवेक में और वासना में क्या उनके भीतर भी युद्ध मचा नहीं रहता है? विवेक की वह प्रतिष्ठा देते हैं। यह ठीक है। लेकिन वासना का क्या करते हैं?

देहरादून से एक सज्जन लिखते हैं—

३० अगस्त के धर्मयुग में आपके प्रेम और विवाह पर विचार पढ़े। पश्चिम का मज़ाक उड़ाने में हम कहीं भी पीछे नहीं हठते—और फिर पेरिस के तो कहने ही क्या। जहां तक मुझे विदित है पेरिस में हर पुरुष की प्रेमिका होती है और हर स्त्री का प्रेमी। इनमें विवाहित स्त्रियाँ और पुरुष भी शामिल हैं। मेरे विचार में अगर यह सच न भी हो तो भी यही सबसे उत्तम सुझाव हो सकता है, जिसमें समाज की मर्यादा भी रहे और व्यक्ति का विकास हो। न पति अपने परिवार के उत्तरदायित्वों की ओर से उदासीन रहे, न ही पत्नी और दोनों अपने प्रेमी-प्रेमिकाओं के प्रति भी अपना उत्तरदायित्व निभायें। यह आरम्भ में अटपटा लगे परन्तु मान्यता बन जाने पर न बच्चों को अटपटा लगेगा न बूढ़ों को। इस विचार को पचा और समा लेने में युग भी लग सकते हैं। पर अन्तिम रूप यही होगा। कम से कम सबसे अधिक तर्क संगत!

मैंने इन बन्धु को लिख दिया है कि मैं सर्वथा असहमत नहीं हूँ।

पश्चिम की रीति-नीति भिन्न हो सकती है। पर इसी कारण उसको नीचा देखना ग़लत है। नीचा वह है भी नहीं बल्कि ऊँचा माना भी जा सकता है। ऊँचा इसलिये कि औसतन सामान्य

व्यवहार में विलायती पुरुष को हिन्दुस्तानी समक्ष में अपने से ऊँचा अनुभव करता है।

मानना होगा कि वहाँ समाज में अस्थिरता अधिक है। लेकिन इसी में से उन्होंने गति और उन्नति की है। उसको भौतिक कह देकर हम अक्सर अपना बचाव किया करते हैं। पर इस भौतिक शब्द का आवश्यकता से अधिक सहारा और उपयोग लेना छोड़ देना होगा। अहमान की उसमें झलक है तो अनिष्ट है। विवेक की बात दूसरी है।

हम मानते हैं कि विवाह होने पर प्रेमी और प्रेमिका अनावश्यक हैं। इसलिये पति और प्रेमी, पत्नी और प्रेयसी, इन दोनों के बीच बैर और विग्रह को स्वाभाविक और उचित मान लिया गया है इसी धारणा पर समाज का नियम बनता और निभता आया है। लेकिन धारणा में विकास होगा। बराबर प्रकट होता जा रहा है कि पति और पत्नी में प्रेमी और प्रेमिका समाप्त नहीं हो पाते; अलग से उन्हें होना ही पड़ता है। वह विधान जो विवाह के अनन्तर प्रेमी और प्रेमिका के लिये कहीं अवकाश नहीं रहने देता है, बार-बार टूटता है। हर कोशिश रक्षा करने की की जाती है, पर बेकार रहती है। उस विधान की सीमा-रेखा पर सदा ही प्रश्न खड़ा दीखता है। अनेक आहुति और बलिदान—उस मर्यादा की वेदी ने प्राप्त किये हैं। लेकिन बलिदानियों की कमी किसी समय और किसी देश में नहीं देखी गई है।

प्रेमी और प्रेमिका का होना बन्द नहीं होनेवाला है। इन दोनों को अनिवार्य मानना पड़ता है। साथ ही पति-पत्नी के बिना समाज और व्यवस्था की कल्पना नहीं हो पाती। यदि अब ये चारों अनिवार्य हैं तो वह समाज-दर्शन और समाज-नीति जो इससे आँख मीचती है संकट में ही रहनेवाली है और वह सरहद जिस पर चौकी पहरा बिठाये रखना पड़ता है, असुरक्षित है—यही मानना होगा।

ऊपर पश्चिम और पेरिस की बात आई है। कुछ पहले तक वहाँ ड्युअल की प्रथा कुलीनोचित बनी हुई थी। कानून वहाँ अब

भी प्रेमी और प्रेमिका को नामंजूर करता है। यह तो समाज का चलन है, समाज का विधान नहीं, जहाँ प्रेमी और प्रेमिका को यथार्थ के रूप में ग्रहण किया जाता है। अर्थात विधि का वैधता का जहां तक सम्बन्ध है वहाँ भी विकास की आवश्यकता है।

समाज को एक स्थिति और व्यवस्था चाहिये। प्रेमी को और प्रेमिका को स्वीकारता देने पर क्या स्थिति का भंग न होगा? व्यवस्था क्या टूटेगी नहीं? ऐसा सोचकर नीति-दाता लोग उदारता-वश तथ्य के रूप में प्रेमी और प्रेमिका की घटना को चाहे अवकाश देते रहे हों, पर विधि में उन्हें अस्वीकार करते जाने में ही उन्होंने कुशल देखी है। मैं मानता हूँ कि यहाँ उन्होंने सत्य से ऊपर शिव को रखा है और यह सही नहीं किया है।

परिणाम यह कि, जैसा बंधु ने लिखा है, पेरिस में हर पुरुष की प्रेमिका और हर स्त्री का प्रेमी होता है। तो भी वह अवैध होता है। उस तरह वहां के आचार में खुला व्यभिचार देखने में आता है। व्यभिचार शब्द मैं अपनी ओर से नहीं कहता, स्वयं उनका विधान कहता है। उसी का नतीजा है कि प्रेमी और प्रेमिका का सम्बन्ध जो उदात्त, उद्‍भावक और प्रेरक होने के लिये है एक दूसरे को पाप में और गिरावट में घसीटने का कारण बनता है।

उस दृष्टि से भारतीय शास्त्रकारों का मैं प्रशंसक हूँ। शिव दृष्टि के साथ उनमें सत्य दृष्टि थी। यही सम्यक् दृष्टि है। हमारे पास प्रातःस्मरण के लिये पवित्र दो नामोच्चार हैं। एक सीताराम, दूसरा राधेश्याम। पहले पति-पत्नी हैं, दूसरे प्रेमी-प्रेमिका। कोई उनमें कम पवित्र नहीं है। और मैं यह मानता हूँ कि आप्त और अवतार-पुरुषों की यह दोनों जोड़ियाँ परस्पर विरोधक नहीं पूरक हैं। उलटी आपस में उतनी दीख सकती हैं जैसे उत्तरीय और दक्षिणीय ध्रुव। लेकिन धरती उन दो ध्रुवों के बीच ही टिकी है। किसी एक के अभाव में दूसरे की स्थिति भी नहीं रहती।

भारत के ऋषियों ने क्रांत-दर्शन का प्रमाण दिया है कि जब एक ही साथ राम और कृष्ण जैसी दो पुरुषोत्तमताओं का हमें आदर्श

दिया है। भारतीय संस्कृति उसी धुरी पर संतुलित रही, उसी से अविच्छेद्य रही है। आप उसे राम की ओर अधिक खींच ले जायेंगे तो भूल होगी। तब विवेक चिद्‌विहीन और आवश्यकता से अधिक कड़ा होगा। कृष्ण की ओर अति होगी तो भी ऐसा ही कुछ अनिष्ट होगा। व्यक्ति तब जगत्छन्द से विच्छिन्न होकर निरा स्वच्छन्द होने लग जायगा।

एक और भी बात सुनता हूँ। श्रीराम बारह कला के अवतार थे, सोलह कलाओं के पूरे अवतार तो श्रीकृष्ण थे। इस पर, इसके आशय और मर्म तक, विचार मीमांसा में जाए और उतरे तो हितकर होगा। पाठक यह कर सकते हैं। मैं अभी उसमें जाना नहीं चाहता हूँ।

लेकिन यह आवश्यक है कि पति के मन में प्रेमी का मान हो। ईर्ष्या और विग्रह को उचित माना जाना समाप्त हो जाय। उसी तरह पत्नी में पति की प्रेयसी के लिये आदर हो चलना चाहिये। सौतिया डाह की यदि परम्परा है, तो मानना चाहिये कि वह बर्बर युग की है। उसमें मनुष्यता नहीं, पशुता है।

मेरे मन में इसमें भी तनिक सन्देह नहीं है कि जिस मात्रा और जिस घर में ऐसा हो सकेगा, प्रेमी और प्रेयसी का स्वागत और समादर होगा, वह गृहस्थ उतना ही फले फूलेगा। नरक की रचना उसमें कभी न हो पायेगी। मानो स्वर्ग लहलहाता रहेगा। यह इस कारण कि मर्यादित नियम का और मुक्त प्रेम का संघर्ष न होगा, दोनों एक दूसरे को अपना नियमन व बल दे सकेंगे।

ऊपर किसी सिद्धान्त-लोक या अपर-लोक की बात नहीं कही गई है। असंभव जैसा उसमें कहीं कुछ नहीं है। अपने नित्य-प्रति के जीवन में झाँककर देखेंगे तो उसकी संभवनीयता और सक्रियता हमें अपने भीतर ही मिल जायगी। परस्पर उदार भाव से वर्त्तन करते हुए पति-पत्नियों का कहीं अभाव नहीं है। संस्कारिता के माप में जो जितना ऊँचा है वह उतना ही स्नेहशील और उदात्त है। पौरुष और तेजस्विता की कल्पना वह ग़लत है जो हिंस्र-भावों

में अपना गौरव देखती है। मुझे इसमें भी संदेह नहीं है कि संयम और प्रेम की उस परस्पर पूरक स्थिति को समझकर जो व्यवहार साधा जायगा उसमें प्रेम सहज भाव से अपार्थिव होता जायगा। इस प्रकार उसी में से पार्थिव के उचित नियंत्रण का उपाय और मार्ग प्राप्त और प्रशस्त होगा।

सितम्बर, १९५९.

प्रेम और विवाह-२

'—उसके बिना हर इकाई घुट जायगी। वह प्राणतत्व है, आत्मा के लिए आक्सीजन है। वह प्राणवायु वातावरण में न रहेगी तो हर साँस के साथ हम क्या लेंगे जो पहुँच कर भीतर क्षण-क्षण संजीवन दे। विवाह पर उसको बन्द कर दो, विवाह मर जायेगा। द्वार-गवाक्ष से उसे आने दोगे तो विवाह का स्वास्थ्य खिला रहेगा।'

प्रेम और विवाह की बात फिर उठ आई है। भरसक मैं उठने देना नहीं चाहता। ज़िंदगी में उठे तो उठे, "इतस्ततः" में क्यों उठाई जाय। सुनता हूँ, उठाई गई तो उससे खलबली मची थी। खलबली पसन्द की जाने योग्य चीज़ नहीं है। लिखने-बोलने का फल यह होना चाहिये कि सामंजस्य बढ़े। ताप हो कहीं तो वह शान्त हो। विग्रह का शमन हो और गिरस्तियाँ टूटें नहीं, संभलें।

पर क्या करूँ? कल वह आई तो सवाल उठा गई। असल में सीधे नहीं उठा। बात शालीन रही। पर भीतर जो था उसे क्या कहूँ?

सात आठ बरस पहले उन्हें मैं जाना करता था। इस बीच वे खोये रहे। मैंने कहा—'अरे, तुम कब आई?'

'पाँच रोज़ से हूँ। आप मिले ही नहीं।'

'क्यों, कहाँ गया था?'

'कितनी बार फोन किया पर हर बार—'

'···बड़ी स्वीट बेबी है। क्यों मुन्ना, क्या नाम है?'

'नाम अभी नहीं है, बेबी कहते हैं। बोलो बेटा, कहो—बेबी··· आपने एकनौलेज नहीं किया हमारा न्यू इयर कार्ड। मिला था न?'

'मिला था···यों ही रह गया।'

'बड़ी साध से भेजा था। हम लोग खूब खुश हैं। मैं बड़ी भागवान हूँ। पति ऐसे हैं–कि बहुत ही अच्छे। बड़ा पुन्न किया होगा कि वह मिले। मैं ही नादान हूँ कि योग्य बन नहीं पाती।'

'ज़रूर खुश हो। देखता हूँ, मोटी हो गई हो। वह कहाँ है?'

'बिजनेस में दौरे पर हैं। बड़ा काम रहता है। बड़ा भी साथ है, बाप की मदद करता है। आपने छोटा देखा था, खूब होशियार हो गया है। बाप से होशियार है।'

'क़द बताओ। उतना ही है कि कुछ ऊँचा हुआ?'

'आप तो जानते हैं पाँच से एकाध इंच हो तो हो...'

'और सुनाओ—'

'आप सुनाइये।'

'सब ठीक है... पर तुम यहाँ हो कैसे पाँच दिन से?'

'मैं···बात ये कि···मैं हूँ न जहाँ, वह साझी हैं। उनके कई काम हैं। असल में फिनाँस उनका है, बड़े भले हैं, देवता हैं···लेकिन छोड़िये। बिजनेस के झमेले हैं। मैं खुद नहीं जानती।···सुनिए, कोई मुझे जगह दिला सकते हैं?'

मैं उसको पहले भी यही जानता था। बात सीधी न होती थी और उसका संदर्भ न मिलता था। मैंने कहा—क्या? क्यों?

'जगह कोई सौ की भी चाहे हो। और रहने को ठौर भी चाहियेगा।'

'क्यों, बिजनेस में घाटा है क्या? घाटा हुआ तो भी क्या। एक दिन नफा भी होगा।'

'नहीं, नहीं। नहीं, वह सब ठीक है। ज़रा है भी तो यही कि स्टाक्स में पैसा फँस गया है। लेकिन उससे क्या। घर-गिरस्ती के खर्च का तो सवाल ही कुछ नहीं है।'

'फिर फिजूल यह क्या है, सौ की जगह वगैरह। कैसी सुन्दर बेबी है, बड़ी तुम कहती हो बी. ए. फाइनल कर रही है। यह स्वर्ग तो है तुम्हारे पास। आमदनी भी है। फिर क्या चाहिये।'

'कैसे बताऊँ, बता नहीं सकती, असल में मैं खुद ही नहीं जानती। पर, पर स्वर्ग में रह कैसे सकती हूँ। क्या उसके काबिल हूँ ? पति के काबिल हूँ ?'

'वह तो मैंने देखा है कितना तुम्हें चाहते हैं। क्या अब बदल गए हैं ?'

'देखिए, हँसी न कीजिये।···चाहना एक बात है। उनसे ज्यादा क्या कोई चाहेगा। एकदम वह मुझपर है। इतने निर्भर कि क्या कहूँ। और ऊपर इज़्ज़त करते हैं। मेरे बिना एक दिन उन्हें भारी पड़ता है। पर कैसे बताऊँ···कहीं कोई जगह तलाश कर दीजिये। इतना बस है कि रोटी-दाल मिल जाय। तन मेरा और बच्चों का ढक जाय। बस और नहीं चाहिये। ढूंढ़ सकेंगे ?'

सात बरस पहले कभी-कभी इन लोगों से मिलना हो जाया करता था। तीन बरस तक यह जान-पहचान चली होगी। मैं कभी जान न सका कि समस्या क्या है। समस्या अवश्य कुछ बेढब मालूम होती थी। परिस्थिति के साथ कहीं मैं उसे जोड़ नहीं पाता था। अक्सर गृहस्थ की समस्या पैसे की भाषा में निदान और समाधान पा जाती है। परिवार में कई सदस्य होते हैं और अपने आसपास सभी कुछ अवकाश चाहते हैं। अवकाश कुछ निजी इच्छाएँ रखने का और उन्हें पूर्ण करने का। यह पैसे के सुभीते से हो जाता है। नहीं तो सदस्यों के व्यक्तित्व एक दूसरे में रगड़ने लग जाते हैं, एक दूसरे को नोंचने-खरोंचने लगते हैं। गिरस्ती में इसलिये सबसे बड़ा भय अभाव का है और सबसे बड़ा अभय धन का है। तभी घर में पत्नी को आप खर्च के बारे में व्यस्त पायेंगे और पति को कमाने के बारे में। आय-व्यय का यह पट बहुत कम ही गिरस्तियों में आय के और पुरुष के पक्ष में होता है। अधिकाँश पलड़ा स्त्री का और व्यय का भारी रहता है। और बातें इस अर्थ-संतुलन से जैसे ओछी पड़ जाती हैं। उस अर्थ की बात के जोड़ में मैं उस दम्पत्ति की समस्या को बिठा नहीं पाता था।

इधर कई वर्ष वे गायब रहे। अब यह महिला फिर समक्ष हुई हैं तो

फिर वही कुछ देखता हूँ। मैंने नाराज़ होकर कहा—देखो, मुझे यह सब पसन्द नहीं है। जानता हूँ, तुम नौकरी नहीं चाहती और नहीं करोगी। तुम्हारे उनसे पूछे बिना मैं कुछ नहीं करूँगा, तुम कुछ नहीं कर सकोगी। तुम यह जानती हो। फिर इतने दिनों बाद आई ज़रा देर के लिये और वही किस्सा ले बैठीं। दस बरस से वही गिरस्ती है, वही झगड़ा है। जानता हूँ, ज़िन्दगी के आखिर तक चलेगा और यह सब बातें बेकार की हैं।'

उसकी आँखों में जाने क्या हो आया। रोष भी था, उदासी भी थी।

'आप समझते क्यों नहीं हैं। बताइये क्या करूँ ? साथ रहूँ तो शान्ति नहीं। दूर रहती हूँ तो शान्ति नहीं। यह बच्चे हैं, नहीं तो सदा को छुट्टी ले जाती।'

···वह कमाते हैं इसके लिये कि मैं जो सुन्दर हूँ, सजकर रहूँ। ऊँची चलू और ऊँचाइयों की तरफ़ उनकी राह खोलूँ। चाहते हैं, पर उसी सुन्दरता को सजा-बजा देखते हैं तो संशय करने लग जाते हैं। समाज में स्थान पाती हूँ, आकर्षण का केन्द्र बनी दीखती हूँ, तो वही इसके लिये उकसाते हैं और फिर वही व्यंग करने लग जाते हैं···जी होता है नाखूनों से इस अपने चेहरे को नोंच-खरोंच डालूँ। बेहाल कर दूँ, तेजाब डाल लूँ···लेकिन इन्हें लाभ होता है, रसाई बढ़ती है और उन संपर्कों से फिर अवसर निकलते हैं। लोग ढुलककर आते हैं और व्यवसाय के नये-नये योग मिलते हैं···मुझे इनके साथ रहना है, इनके बच्चों की माँ हूँ। इनकी उन्नति में बाधक कैसे हो सकती हूँ ? लेकिन बाधक होती हूँ जब साधक होना चाहती हूँ। हर सफलता पर इनका मन उठता है, पर नीचे से कटता भी है। माने बिना यह नहीं रहते कि उसकी जड़ में मैं हूँ। बहुतेरा जतलाती हूँ कि तुम्हारी अपनी बुद्धि है, तुम्हारी कुशलता है। पर दुनिया को वह जानते हैं। जानते हैं कि कैसे वह चलती है और अपने पर विश्वास नहीं ला पाते। इधर सफ़लता पर वह बढ़ते हैं, उधर उसी पर अन्दर से अपने को लहूलुहान

बनाते जाते हैं··। आपको शुरू का पता नहीं है। मैंने बताया नहीं है। एक इंपोर्ट लायसेंस मैंने प्राप्त किया था। उसमें भारी गुँजायश थी। रिफ्यूजी थे और हकदार भी थे, लेकिन मानती हूँ कि उसके मिलने में कारण मैं भी थी। वह खुश हो आए थे। लेकिन उसको पाने में जो संपर्क बने वे इन्हें ऐसे चुभते थे जैसे काँटे। उन पर मन ही मन वह आह कर आते हों, लेकिन ऊपर से मुस्कराते और उन संपर्कों को सहलाते भी थे। तब उमर कम थी और बच्चा वह जो बड़ा है गोदी में था। घर की जिम्मेदारियाँ उतनी मन पर न थीं। क्लब और पार्टियाँ रस देती थीं। यह चाहते थे मैं घर में रहूँ और चौबीसों घंटे वह पास रहें। उनकी ही आँखें देखें और हरदम देखती रहें, किसी भी दूसरे की निगाह मुझ पर न पड़ पाए। इसमें अक्सर ये दफ्तर भूल जाते थे। मगर शाम को क्लब मुझे ले जाकर घाटे से ज्यादा नफ़ा कर लेते। मुझे जाना पड़ता था और मैं देखती थी कि दफ्तर की कमी कहीं ज़्यादा वहाँ मुझ से पूरी हो जाती थी। घर आते और बात करते उन लोगों की जो वहाँ मिले थे। मैं नई थी और सब मेरी तरफ अच्छे थे और मुझे अच्छे लगते थे और मैं खुशी जतलाती थी और एक-एक की तारीफ करती थी और वह उस तारीफ पर अपनी तरफ से हाशिया चढ़ाते जाते थे। तब मैं पहचानती थी कि वह इस तरह अपने पर धीरे-धीरे रेती फेरकर अपने को काटते ही हैं। काटते हैं और उसी में रस की चुस्की लेते हैं। गहरी ईर्ष्या तब उनमें काम कर रही होती थी और मुझे उकसा-उकसाकर मुझसे क्लब के एक-एक युवक की तारीफ के शब्द निकलवाया करते थे··। मानती हूँ कि क्लब में आदमी हिसाब से ऊपर चलता है। इसलिये उसका कृपण पक्ष सामने नहीं आता, उदार और उज्ज्वल पक्ष ही आता है। गिरस्ती में जो प्यार हिसाब के आँकड़ों में रुँध और बुझ जाता है, क्लब में वही खिल आता है। आप जानते हैं कर्तव्य में प्यार नहीं रहता, वह सदा आनन्द में रहता है··। तो मैं क्या करती? मन में लहरें उठती थीं और जिस-तिस का स्पर्श भी पाती थीं··। लेकिन सच कहती

हूँ, गिरस्ती में मैंने अपना तिल-तिल गलाया। कोई उसमें प्रमाद किया हो तो बुलाइये उनको, वह कह दें। लेकिन उनका प्यार अपनी ही शंका में कटता और झुलसता रहता। पत्नी थी, इतना काफी नहीं था। प्रेमिका बन कर उन्हीं की होऊँ, यह तृप्ति वह चाहते थे। पति भला प्रेमी हो सकता है? प्रेमी तो एक रंगीन ख़्वाब है जो आँखों की वजह से बाहर छा आता है। यों वह कहीं है नहीं। आज इसमें है, कल उसमें है। पति वास्तविकता है। वही टिकता है, वह सपना नहीं है कि उड़ जाय। यह जानती हूँ, और उन्हें बताती रहती हूँ। पर मेरे साथ गिरस्ती रखकर जब वह उस पति देवता के आसन को लात मार कर प्रेमी बनना चाहते हैं, तो मैं कराह उठती हूँ· · ·जेवर देते हैं, भेंट देते हैं, बेतहाशा कपड़े बनवाते हैं, यहाँ वहाँ ले जाना चाहते हैं। और मैं देखती हूँ अपनी लड़की नीना को जिसका अब ब्याह होना चाहिये, इस छोटी बेबी को जिसको घर में बैठकर मुझे शिक्षा देनी चाहिये। लड़का है जिसके भविष्य का मुझे विचार करना चाहिये। पर प्रेमिका की जिसे आवश्यकता हो और अपने को प्रेमी के रूप में जो अनुभव कर आना चाहता हो उसका मन कैसे फिरे?· · ·मैं कहती हूँ—पत्नी मुझे रखो और जाकर क्लब में प्रेमिका कोई ढूँढ़ लो। तो दोनों मन तुम्हारे पूरे होंगे। लेकिन वह उनसे होता नहीं है। मुड़-मुड़कर मुझ पर आते हैं और मुझ में प्रेमिका देखना चाहते हैं। बताइये वह कैसे हो? क्लब का रूप मेरा कुछ चन्द मिनटों का है। वह दूसरों को लुभा सकता है और उनके साथ वह रूप निभ भी सकता है। पर पत्नी तो मेरा स्थायी भाव है। क्लब के एक घंटे को छोड़कर चौबीस में तेईस घंटे तो मैं वहीं हूँ· ·। लेकिन उनको कुछ रंगीन चाहिये जो एक घंटे के लिये मैं भले बन सकती हूँ। अर्थात् निर्द्वन्द्व, प्रसन्न, मुक्त। जिस पर दायित्व नहीं, चिंता नहीं, जो अगणित है, अविचारित है। जिस पर हास और विलास है, जो सर्वथा प्रकृत है और आवरण जिस पर केवल मात्र उपचार है, जो नर के बस लिए नारी है उससे अधिक और कुछ नहीं है। मेरा वह रूप अवश्य मनोरम होगा।

तरंगमय होगा, कमनीय होगा। पर वह और सब दूसरों के लिये हो सकता है, इनके लिए कैसे हो सकता है जो बालकों के पिता हैं और मेरे लिये हरदम खटते रहते हैं। उन्हें शरीर दे सकती हूँ, पर आनन्द कैसे पा सकती हूँ। उनमें उनको कैसे भूलूँ ? अपने को कैसे भूलूँ मैं ? आनन्द एक भूलना है। गिरस्ती में वह कैसे हो ?...'

उसके उद्‌गार यहाँ इस लिखने में समा गए हैं, यह मानने की भूल न कीजियेगा। वह कहती गई और कहती गई थी।

जानता हूँ उसकी समस्या का हल मेरे पास नहीं है। उसका पार कहीं नहीं है। इसलिये नहीं है कि विवाह विवाह है, प्रेम प्रेम है। विवाह पर गृहस्थ टिकता है, समाज टिकता है। लेकिन हर इकाई के आसपास जो चाहिये, वह जो हरेक को एक दूसरे के बीच से प्राप्त करते रहना चाहिये; एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति, एक वर्ग को दूसरे वर्ग और एक अस्तित्व को दूसरे अस्तित्व के बीच से, वह तत्व और भी अनिवार्य है। उसके बिना हर इकाई घुट जायगी। वह प्राणतत्व है, आत्मा के लिए आक्सीजन है। वह प्राणवायु वाताकाश में न रहेगा तो हर साँस के साथ हम क्या लेंगे जो पहुँच कर भीतर क्षण-क्षण संजीवन दे। विवाह पर उसको बन्द कर दो, विवाह मर जायेगा। द्वार-गवाक्ष से आने दोगे तो विवाह का स्वास्थ्य खिला रहेगा।

अप्रेल, १९६०.

| नग्नता और सभ्यता

खण्ड 2

दुराचार-१

इस सभ्यता की उपज वे दसियों मंजिलों के मकान हैं, तो गिज-बिजाती चालें भी हैं। दृष्टि का छल है वह जो इन्हें दो दिखाता ग्रौर बताता है। ये दोनों सिरे परस्पर को थामते ग्रौर एक हैं। ग्रपने को सभ्य मानने वाले उनसे ग्रलग नहीं हैं जिनको वे गन्दे ग्रौर कमीने कहकर ग्राँख से बचाते ग्रौर देखकर ग्रनदेखा कर देना चाहते हैं।

उस रोज़ ज़ोनल कमिटी की रिपोर्ट में शिकायत थी कि जमुना किनारे बदकारी के ग्रड्डे हैं। घाट पर पड़ी झोपड़ियां इस काम में ग्राती हैं। कुछ इन्तजाम होना चाहिये।

इस पर विचार हुग्रा, बहसें हुई, सुझाव ग्राए। ग्रन्त में मालूम हुग्रा कि प्रश्न 'ला एंड ग्रार्डर' का है। हल इसके सिवा दूसरा नहीं कि पुलिस गश्त दे ग्रौर जब घाट ठहरने के लिये है नहीं तो वहाँ रात में जिसे भी पाये, निकाल बाहर करे।

"फिर वह लोग कहाँ जायें ?"

"कहीं जायें। यह सरकार का जिम्मा नहीं है।

"समाज सेवक कार्यकर्त्ता इसमें कुछ नहीं कर सकते ?"

"क्या कर सकते हैं ? कर सकते हैं तो पुलिस की मदद से।"

एक महिला नेता ने कहा "पुलिस का मुझे तो भरोसा नहीं। उसका सब ग्रपराधों में साथ पाया जाता है। केस जो ऊपर ग्रा जाते हैं पकड़ जाते हैं। बाकी बस। पुरुष समाज सेवकों से भी यह काम होने वाला नहीं है। उनके बारे में शक पड़ जाता है। काम यह स्त्रियां कर सकती हैं।

"ग्रच्छी बात है। लेकिन कौन स्त्री रात ग्रंधेरे में जायेगी ?

"पुलिस साथ हो सकती है।"

"फिर पुलिस !"—और लोग हंसे।

ऐसे बात इधर उधर झूलती रही। अन्त में तय पाया कि एक रोज पुलिस दस्ते के साथ ऐन वक्त पर मौके पर जा धमका जायगा।

अध्यक्ष ने इस बीच एक दिलचस्प बात सुनाई। कहा कि कुछ महिलाओं ने एक बार सुधार का काम शुरू किया। स्त्रियों को दस्तकारी सिखाई जाने लगी कि वे पेशा छोड़ें और मेहनत की कमाई का रास्ता पकड़ें। डेढ़ से दो रुपये तक की आय का साधन इस प्रकार स्त्रियों के लिये तनिक यत्न से हो सकता है।

यह प्रस्ताव एक के सामने रखा गया। वह बोली—दो रुपया ? दो रुपया रोज तो मेरा शराब का अपना खर्च है !

मतलब, सुधार की बात बेकार निकली।

मुझे भी एक अवसर की याद है। इस क्षेत्र में काम करने वाली एक प्रसिद्ध संस्था ने विचारके लिए गोष्ठी की। श्रेष्ठ लोग थे, उनके सामने संस्था ने अपने काम का ब्योरा रखा और सहयोग सहायता की मांग की। काफी संख्या में ऐसी स्त्रियों को शिल्प की शिक्षा दी गई थी और बताया गया वे काम-धन्धे में लग गई हैं। अब दो रुपये या इससे अधिक भी काम करके वे कमा लेतीं और इज्जत की जिन्दगी बिताती हैं।

संस्था स्त्रियों की थी। सदस्याएँ सब इज्जतदार थीं। मेरे पास कहने के लिये कुछ न था। विवश हुआ तो यही कहा कि डेढ़ रुपया रोज कमा सकने की हालत इज्जतदार है—क्या इस बारे में उनको या हमको संतोष है ? यहाँ जो हैं डेढ़ दो हजार से कम अपने ऊपर खर्चा करनेवाली आप लोग नहीं हैं। इज्जतदार होने के लिये अगर हमसे उदाहरण लेकर वे स्त्रियाँ चालीस-पचास पर संतुष्ट न हों तो इस पर क्या हमको विस्मय करने का हक होगा ? इज्जत के लिये क्यों हरेक को यह कोशिश नहीं होगी कि उसकी आय कम से कम एक हजार तक तो बढ़े। उसे बढ़ाने के जो और

जैसे साधन किसी को आसपास दीखेगें उनसे बचने का बताइये कारण क्या रह जाता है ? कारण बेइज्जती ही तो है। लेकिन इज्जत तो पैसे से बनती दीखती है।!

इस तरह उलझन बन आती है। असल में जरूरत है समाज में जीवन के उस नमूने की जो भरपूर हो, जिसकी इज्जत हो, जिसमें क्षमता हो, फिर भी पैंतालीस-पचास मासिक पर उसकी गुज़र बसर हो जाती हो। वह नमूना पहले था; गांधी के वक्त फिर समाज में पैदा हुआ। लेकिन अब उठता जा रहा है। आदर्श के तौर पर वह उदाहरण अगर समाज में बिलकुल नहीं रह जायेगा तो ऊपर से किये जानेवाले सुधार के प्रयत्न कितना फल ला सकेंगे ? कारण, तब नीति दोहरी हो जायगी। सुधार सिखानेवाले हजारों मासिक खर्च के स्तर पर रहने को एक नीति मानेगें और प्रसन्न होंगे। सुधार जिन्हें सिखाया जाता है, उनसे प्रत्याशा होगी कि वे हाथ के काम से चालीस-पैंतालीस कमाकर सुख-संतोष में रहना सीखें। यह बात बननेवाली नहीं है।

यहाँ थोड़ी परिस्थिति के विश्लेषण में जायें। कुछ लोग रुपया देते हैं, यानी कुछ खरीदते हैं। दूसरे उसे लेते अर्थात् कुछ बेचते हैं। इन दोनों के योग और सम्पर्क के लिये बीच में दलाल है। ठेकेदार भी हैं। तो इस व्यापार में जो बात आपत्ति की रह जाती है, वह यह है कि बिकनेवाली वस्तु यहाँ और कुछ नहीं; शरीर है।

इस व्यापार विक्रय को यदि हम सिर्फ इस आधार पर रोकना चाहें कि छि: छि:, शरीर के उपयोग से पैसा कमाना कितना नीच काम है तो स्पष्ट है कि वह काफी नहीं होगा; काफी नहीं हो रहा है। भावुकता का बांध क्रमश: कमजोर पड़ रहा है। बौद्धिकता बढ़ती जाती है और यह व्यापार अब ऊँचे स्तर पर चलता है। लिया और दिया जानेवाला रुपया हजारों तक जाता है, तो बौद्धिक विवेक को वह सहर्ष स्वीकार्य हो जाता है। तब वहाँ लज्जा का भी विषय कोई नहीं समझा जाता। भावुकता कुछ कहे, लेकिन समाज सम्मान देता है। लोकमत बनाने और प्रकट करनेवाला प्रेस इस

विभूति और महिमा को सिर-आँखों लेता है ।

तब प्रश्न का रूप बदल जाता है । मालूम होता है कि आदान-प्रदान की रकम जब थोड़ी है, स्थान फैशनेबिल नहीं मामूली है, शरीर के दान-आदान में एक लज्जा-संकोच का भाव है, तब जैसे वह सामाजिक कलंक है । यदि राशि अधिक है, लज्जा की जगह गर्व है, स्थान माननीय है तो वही व्यापार महिमा से मंडित हो जाता है !

किन्तु उस पहलू को छोड़िये । यथार्थ को लीजिये । क्यों है कि देने को पैसा है, और पैसे की गर्ज है——सिर्फ इतने के लिये कि स्त्री-पुरुष को परस्पर की प्राप्ति हो !

मेरा मानना है यह कि यह गहरा प्रश्न है और ऊपरी रोक-थाम के बस में आनेवाला नहीं है । पत्तों-पत्तों का जो इलाज करते हैं, जड़ को छोड़ते हैं, उन्हें अपने उपदेश के धन्धे से रोका नहीं जा सकता । लेकिन जिनमें व्यथा है और जो अहंमन्यता के चक्कर में रहना नहीं चाहते, वे ऊपर से इस समस्या को नहीं लेंगे और जल्दी से सुधारक बनने की लालसा में नहीं पड़ेंगे । हमको सुभीता है, फुरसत है, सफेदपोश हैं, क्योंकि आमदनी अतिरिक्त है । हम क्लब जा सकते हैं और सभाएँ बना सकते हैं । प्रस्ताव और दौरा कर सकते हैं, फण्ड पा और उठा सकते हैं । इससे बड़ा आसान है कि हम सुधरे हुए रहें और दूसरों को सुधारने का शौक फर्माएँ । लेकिन मुझे इसमें सन्देह है कि इस वृत्ति से समस्या निपट सकती है ।

ऊपर की सभा में निश्चय हुआ कि पुलिस लेकर धावा बोला जाय और उन्हें खदेड़ दिया जाय । यह आसान है । व्यवस्थापक के मन को अवश्य इससे कुछ चैन मिलेगा । शायद कुछ राहत होगी । पर समस्या निपटेगी, इस भ्रम के लिये अवकाश नहीं है ।

समस्या के निपटारे के लिये गहरी व्यथा-वेदना का संचय पहले जरूरी है । क्या हम मानते हैं कि वे हमारी बहनें, माताएँ, बेटियाँ नहीं हैं ? एक ऊपरी संयोग का सहारा हम न लें । सच मानियेगा

कि अगर रिश्ते में वे हमारी सगी नहीं हैं तो भी हमसे विलग नहीं हैं। जरा सहानुभूति से देखें तो पहचाने बिना हम न रहेंगे कि हम खुद इस स्थिति के लिये जिम्मेदार हैं !

क्या हम उस सभ्यता के अंश नहीं हैं जो गाँव से और घर से उठाकर आदमी को शहर में खींचे लिये जा रही है, जो आदमी को ऐसे चक्कर में डाले रखती है कि उसे अपने अस्तित्व के संघर्ष से साँस नहीं मिलने देती है। लाखों लाख आदमी शहर में इकट्ठा हुआ जा रहा है। अधिकांश उसमें हैं कि जिनके नाते-रिश्ते टूट गये हैं। घर-बार उनका है नहीं। जड़ से वे उखड़े हैं। कर्तव्य सिमटकर उनका अपने अस्तित्व तक रह गया है। पैसा एक अकेला साधन है उन्हें साँस लेने का। वह देखिये, एक मजूर है जिसके पास हाल कमाये दो रुपये हैं। पीछे और कुछ देखेगा, पहले वह अपने को ठर्रे में भूलेगा। बाकी में चाहेगा कि और भी रहा-सहा अपने को चुका डाले। यह अपने पर खुद भारी पड़ने वाली बिरादरी शहर में कम नहीं है। उनके पास पैसा इतना कम होता है कि होते ही उड़ा डाले बिना उनसे नहीं रहा जाता। अतीत से वे टूटे हैं, भावी से वे डरते हैं। बस पैसे को लेकर वे वर्त्तमान की ठेठ तक चूस लेना चाहते हैं।

इस सभ्यता की उपज वे दसियों मंजिलों की हवेलियाँ हैं तो गिजबिजाती चालें भी हैं। दृष्टि का छल है वह जो इन्हें अलग दिखाता और बताता है। ये दोनों सिरे परस्पर को थामते हैं और एक हैं। अपने को सभ्य माननेवाले उनसे अलग नहीं हैं जिनको वे गन्दे और कमीने कहकर आँख से बचाते और देखकर अनदेखा कर देना चाहते हैं।

इस सभ्यता ने जो निर्माण किया है, उसमें पैसे की अतिशयता और पैसे का अभाव दोनों बराबर पैदा होते हैं। दोनों साथ चलने को बाध्य हैं। स्तर हैं जहाँ यह नहीं सूझ पाता कि पैसे का क्या करें। बखेरते हैं, फिर भी वह काफी नहीं बिखर पाता। साथ ही स्थान है जहाँ समझ नहीं आता कि एक पैसा पाने के लिये क्या किया जाय।

भीख के लिये हाथ पसारा जाता है, पर पैसा नहीं आता। तन लुट जाता है पर पैसा भी बीच में से लुट जाता है। इस सभ्यता का मान यदि पैसा बन बैठा है तो तर्क की इसमें गलती नहीं है कि आदमी बिकने को तैयार हो, फिर भी खरीदार में माँग न हो। बेतादाद बेरोज़गार हैं जो बिक्री के लिये बाजार में हैं, पर कहीं अपने को बेच नहीं पाते। वेश्या का व्यवसाय सुनते हैं कानूनी नहीं रह गया है। पर जानकर जानते हैं कि बाजार में माल की कमी नहीं है। तोड़ पैसे की है, उसी की माँग है। इसलिये उसकी ही जीत है।

मनुष्य अपने को गिने और दूसरे मनुष्य को भी गिने इस नाते कि वह मनुष्य है, वह इज्जत दे और अपनी इज्जत माने। यह स्थिति आयेगी तब जब पैसे का मूल्य मनुष्य से निरपेक्ष और स्वतंत्र न रहेगा और सभ्यता के केन्द्र में तंत्र की जगह स्वयं मानव व्यक्ति को स्वीकार किया जायेगा।

अगस्त, १९५९.

दुराचार-२

साधु यदि अलग है और गृहस्थ अलग, त्याग एक के लिए है और भोग दूसरे के लिए, इसके लिए अध्यात्म और दूसरे के लिए पदार्थ, तो संयम की वह तीखी रेखा जो ऐसी फाँक बीच में डालती है, जीवन की चौमुखी संपन्नता में बाधा भी बन सकती है।

एक विचारशील भाई ने नाराज़ होकर पत्र लिखा है।

"दुराचार पर आपका मन्तव्य देखा। और भी जहाँ-तहाँ आपकी बातें पढ़ता रहा हूँ। आप अस्पष्ट रहते हैं। मैं दो टूक जानना चाहता हूँ कि संयम के बारे में आपका क्या कहना है। 'संयमः खलु जीवनम्' इस नीति वाक्य को क्या आप अन्तिम नहीं मानते ?"

नहीं, मैं अन्तिम नहीं मानता। संयम को मैं मूल्य नहीं मानता। साध्य का वह साधन है। इसलिये साध्य बुद्धि उसमें भी रखें, यह ग़लत नहीं है। लेकिन अन्त में याद रखना होगा कि वह स्वयंसिद्ध इष्ट नहीं है। परम इष्ट को हमारे यहाँ मोक्ष की संज्ञा दी गई है। संयम से उलटे वहाँ मुक्ति का भाव है। सत्‌चिदानन्दता है। इस राह में संयम साधक है, यही उसकी उपयोगिता है। जिससे उधर बढ़ना नहीं होता वह संयम भार है। उससे उलटे अनिष्ट हो सकता है।

ऊपर का प्रश्न इसीलिये है कि अनाचार, दुराचार, अत्याचार, व्यभिचार देखा जाता है। अवस्था संकट की है। समाज हिल गया है। मूल्य भ्रष्ट हुए जा रहे हैं। आस्था नष्ट हो रही है। आदमी का आदमी पर से भरोसा उठ रहा है। भरोसा पैसे का रखा जा रहा है। यह स्थिति विचारकों और मनीषियों को परेशान किये हुए है। उनके लिये तो यह स्वर्ण अवसर है जिनके पास कुछ स्वार्थ

साधने को है, वे स्थिति का पूरा लाभ ले रहे हैं। लेकिन जो अपने हित की उतना नहीं सोच पाते हैं जितना समाज-हित की बातें सोचा करते हैं, वे व्यग्र और परेशान हैं।

सामान्य भाषा में चलते हैं शब्द अध्यात्मवाद और भौतिकवाद। माना जाता है कि अध्यात्मवाद अपरिग्रह बढ़ाने को कहता है और भौतिकवाद परिग्रह बढ़ाने को। भौतिकवाद में जबकि लाख से करोड़ और करोड़ से अरब खरब की तरफ दौड़ा जाता है। तब अध्यात्म यह है कि आदमी अपने पास चीज़ों को उत्तरोत्तर इतना कम करे कि अन्त में दिगम्बर बन जाय। दिशायें ही उसके लिये वस्त्र रहें और कुछ उसे चाह न हो।

ये दो प्रवृत्तियाँ सब काल और सब देश में रही हैं। साधुसंत, संन्यासी, कवि, कलाकार मानो पदार्थ से पार देखते रहे हैं और उस प्रकार का अभाव अपने आसपास पैदा कर लेते हैं। सरस्वती यहीं से अपना जनम पाती है।

दूसरी ओर लक्ष्मी के वरद पुत्र होते हैं। वे सम्पदा और सत्ता का अर्जन करते हैं, अर्चन और उपभोग करते हैं और उसको पुरुषार्थ मानते हैं।

पहले प्रकार के लोग नीति का दान करते हैं। वे दर्शन और ज्ञान का संपादन और वितरण करते हैं। वे प्रकाश देते माने जाते हैं और उनकी कृतियों का अध्ययन और मनन किया जाता है। पर अपने समय में वे संसार के काम के उतने नहीं समझे जाते और कुछ उनसे किनारा ही रखा जाता है।

व्यक्ति और वस्तु से भरपूर इस संसार के व्यवहार व्यापार को संभालते वे दूसरे लोग हैं जो उनके प्रति कामना रखते और इसलिये परस्पर राग-द्वेष पूर्वक चलते हैं।

यों समस्याएँ पैदा होती हैं और संयम की माँग होती है। आदमी जंगल में नहीं रहता, समाज में रहता है। जानवर के लिये आदर्श मोक्ष नहीं है, क्योंकि वह अभी मुक्त है। वह पूरी तरह स्वतंत्र है। बस ताकत चाहिये, फिर कहीं उसके लिये विघ्न-बाधा

नहीं है। समाज उस तरह का जंगल नहीं है। इसलिये यहाँ कोई स्वतंत्र नहीं है। हरएक के लिये सीमा हर दूसरा है और प्रत्येक की एक स्थिति है जिसके चारों ओर परिस्थिति की परिधि है। परिस्थिति वह वेष्टन है, कवच है, छिलका है जिसके भीतर आदमी रहता है, पकता और बुझता है।

इस तरह समाज होते ही व्यवस्था का प्रश्न आता है। स्पष्ट है कि यह व्यवस्था का प्रश्न है और सदा रहनेवाला है। कारण, किसी को बिना सब कुछ पाये पूरा चैन नहीं मिल सकता और पाने की भाषा में किसी को सबकुछ मिले यह संभव नहीं है। इसलिये अन्दर की कामना और बाहर की विवशता इन दोनों का संघर्ष सर्वथा स्थायी और शाश्वत है।

अब मुक्ति के दो उपाय सूझते हैं। एक यह कि जो है और जो मिलता है उसमें अपनी कृतार्थता मानना और इच्छामात्र त्याग देना। ऐसे जीव जहाँ है, मगन रह सकता है। दु:ख में से सुख पाया जा सकता है। यह एक प्रकार की साधना है। उस मार्ग पर बहुतेरे चले हैं और अन्त में अलमस्त बनते देखे गये हैं। सम्राट उनके सामने खड़ा हुआ है और उन्होंने उससे माँगा तो यह माँगा कि तू सामने से हट जा, धूप आने दे।

पर मुक्ति की ही चाह यह भी थी कि एलेक्ज़ण्डर, चंगेज़ खाँ और नैपोलियन जैसे लोग घर छोड़ इधर-उधर लड़ते फिरे। वे मारते गिराते गये कि अनुभव पा सकें कि वह हैं और कहीं कोई विघ्न नहीं है और बाधा नहीं है। वे हैं, और सब हैं।

इन दो राहों के पक्ष-विपक्ष में मुझे कुछ नहीं कहना है। अलेक्ज़ण्डर डायोज़निस बने या डायोज़निस अलेक्ज़ण्डर, इसमें किसी में दुनिया का बड़ा हित नहीं है। डायोज़निस टब में तुष्ट था। अलेक्ज़ण्डर के लिये साम्राज्य भी छोटा था। पर इन दोनों को लेकर दुनिया वहीं की वहीं थी। ब्रह्मांड के बीच अनन्त-असंख्य पिण्डों में एक पिण्ड।

उसी जगत में अपने-अपने स्वभावों को लेकर विचरण करते

हुए हम लोगों में संयम का प्रश्न उपस्थित होता है। स्पष्ट है कि संयम अनिवार्य है। जीवन हम जिसको कहते हैं, यानी मेरा तुम्हारा जीवन, वह संयम के बिना टिक नहीं सकता। कहते हैं, चंगेज़ खाँ मरना नहीं चाहता था। आँख गई और पाँव गये वहाँ तक वह सब कुछ जीतता गया। लेकिन अन्त की ओर उसे लगने लगा कि यह क्या? क्या मरना ही होगा? उसकी बिलकुल समझ में नहीं आया यह मरना। लाखों लाख को उसने मौत के घाट उतार दिया था। पर ठीक तरह समझ में न बैठा था उसके कि मौत का घाट क्या होता है। वह तो अबतक जैसे मानता आया था कि ज़िन्दगी के विस्तार में वह सिर्फ विघ्न-बाधाओं का ही नाश करता आया है। मौत यदि उसने दी है तो यह समझकर नहीं कि मौत क्या होती है, बल्कि यह समझकर कि उसकी जिन्दगी के आगे कोई मौत ठहर नहीं सकती। लेकिन यह क्या? क्या जिन्दगी मिटती और मौत आती ही है? उसको किसी तरह विश्वास न हो सका। दूर तिब्बत से उसने योगियों और सिद्धों को बुलाया। उसे विस्मय हुआ यह जानकर कि अमरता उनके पास भी नहीं है। अमरता कहीं है ही नहीं। वह मरते मर गया पर अन्त तक उसको कुछ समझ न आया!

मरने में कोई क्या कर सकता है। क्या असंयम कर सकता है, क्या संयम यही हो सकता है कि बिलखते न कलपते हुए मरें। या यह कि स्वीकार करते हुए धीरज से मर जाएँ।

मुझे लगता है कि विवशता की स्वीकृति में संयम यदि है तो वह संयम नहीं है।

सच यह कि संयम में कहीं बाध्यता है। पूरी सहजता हो तो शायद संयम शब्द वहाँ ओछा रह जायेगा।

संयम कर्त्तव्य है। कर्त्तव्य धर्म से कुछ कम है। धर्म सहज होता और हो सकता है। वस्तु-स्वभाव को धर्म कहा है। स्वभाव की स्थिति में विभाव कोई विक्षेप नहीं है। इसलिये वहाँ संघर्ष भी नहीं है। संयम विभाव के प्रति होता है। यानी स्वभाव में

विभाव अभी मिला हुआ है, इसलिये संयम दरकार है।

यहाँ स्पष्ट होना चाहिये कि संयम का दायित्व विभाव के प्रति है। यानी स्वभाव में उसका दखल हो तो यह बड़ा खतरा है।

संयम का जब पन्थ चलता है, उसकी रूढ़ि बंधती है, तो यह खतरा समाज के मानस में उपस्थित होता है। अर्थात् संयम से विभाव को ही नहीं बचाया जाता है बल्कि स्वभाव को भी कुचला जाता है। कायक्लेष में सुख माना जाता है। आनन्दमात्र से भय लिया जाता है। त्याग में से हठात् आसक्ति की तृप्ति खोजी जाती है। वैराग्य में गर्व होता है। व्यक्ति इतना साधु बनता है कि सेवक रह नहीं जाता। प्रेम उसे सिद्धांत होता है, संवेदन नहीं।

मुझे आशंका है कि यह आग्रह भोगपन्थ को उद्दीपन देता है और समग्रता की कुछ हानि करता है। मानो वह जीवन को विभक्त और कर ह्रस्व करता हो, उसे परिपूर्णता न देता हो।

साधु यदि अलग है और गृहस्थ अलग, त्याग एक के लिये है और भोग दूसरे के लिये, इसके लिये अध्यातम और दूसरे के लिये पदार्थ, तो संयम की वह तीखी रेखा जो ऐसी फाँक बीच में डालती है, जीवन की चौमुखी सम्पन्नता में बाधा भी बन सकती है। क्योंकि तब उसके आगे साध्य कुछ नहीं रहता। मानो अवसर मिलता है कि वह अपने को ही परम साध्य मान ले।

अक्टूबर, १९५९.

नग्नता और सभ्यता

कोई होता है जिसके प्रति हम अपने को ढकना चाहते नहीं; खुल आते हैं और प्राण-स्फूर्ति पाते रहते हैं। अभागा है वह कि जो कहीं खुल नहीं पाता। ढका-ढका ही जो रहता है, कहीं जिसे सुविधा नहीं है कि लज्जा और ग्लानि से मुक्त होकर अपने को सर्वथा खोल रहे, वही प्राणी है जो अपने को घोटकर मारता है; नहीं यह कर पाता तो अपने को विक्षिप्त कर लेता है।

प्रश्न पूछा गया, 'तुम नग्नता को मानते हो ?'

'हाँ, और आप नहीं मानते ?'

'नहीं।'

यह 'हाँ' और 'नहीं' वाले दोनों बात करते समय कपड़े पहने हुए हैं। दोनों नहाते समय कपड़े उतार देते हैं। इसमें उनकी हाँ और नहीं से अन्तर नहीं आता। कपड़े जहाँ उतार रहना ज़रूरी होता है, वे उतारते ही हैं। जहाँ पहनने से चलता है, वहाँ पहने जाते हैं। फिर यह हाँ-नहीं क्या ?

इस पर लड़ाई तक हो सकती है। जैनों में दो वर्ग हैं, दिगम्बर और श्वेताम्बर। उनमें लड़ाई हो जाती है। अन्तर विशेष नहीं है, क्योंकि दोनों जैन हैं। एक तीर्थंकर, एक धर्म, एक तत्ववाद। फिर भी मानने की लड़ाई है। उसे दूसरे कैसे समझें !

असल में ज़्यादातर मतभेद शब्द को लेकर होता है। व्यवहार के क्षेत्रमें सुविधा यह है कि शब्द वहाँ एक अर्थ देते हैं। व्यवहार से उठा कर विचार के क्षेत्र में पहुँचा देने से शब्द वस्तु-बोध से छूट जाते हैं। वहाँ वे धारणात्मक बनने लग जाते हैं। इससे विचारक दो कभी मिल नहीं पाते; जबकि व्यवहारी अपने विविध और विरोधी

स्वार्थ रखकर भी अनेकानेक आपस में मिला-जुला करोबार चला ले जाते हैं।

हम सभ्यता में इतने रहते हैं कि नग्नता में हमारे लिए असभ्य ध्वनि हो आती है। सभ्यता प्रकटतः वस्त्र-निर्भर है। वस्त्र जैसे संयम के द्योतक हैं और बिना संयम और मर्यादा के सभ्यता की कल्पना नहीं हो सकती। मानो अन्तरंग संस्कारिता की वे मर्यादाएँ बाहर सभ्यता में आकर वस्त्र में मूर्त होती है। अन्दर जाने क्या क्या है, वाणी में सबकुछ फूटकर बाहर आये तो उससे फूहड़पन प्रकट होगा। वही वाणी विवेकपूर्ण होकर प्रिय लग आती है और साहित्य बनती है। उसी तरह आवश्यक होता है कि शरीर का सबकुछ हठात् प्रकट न हो। शरीर, विवेक-अर्थात् शरीर पर आवरण धारण का विवेक।

वस्त्र की यह संस्था लगभग उतनी ही प्राचीन है जितना स्वयं पुरुष है। पशु को यह परिग्रह मिला नहीं। यह उसे बहुत कुछ अनावश्यक भी है। शरीर में उसके क्षमता है, ऋतुओं को अनुकूलता से वह सह सकता है। शरीर उसके पास बस है, न उसमें गर्व है न लज्जा है। क्षमता और उपयोगिता उसमें जितनी है, उसको लेकर पशु निश्चिन्त हैं।

आदमी का हाल दूसरा है। प्रकृति की ओर से शरीर उसको आवश्यकता से कम मिलता है। जैसे प्रकृति को अपेक्षा हो कि इस कमी को अपनी ओर से वह स्वयं पूरा करेगा। यह कमी उसमें बुद्धि उपजाती है, या कहो बुद्धि के कारण और साथ यह कमी होती है। जो कहो, वह शरीर को पाता ही नहीं है, अपनी ओर से उसे बनाने संवारने की आवश्यकता भी पाता है। उसमें कुछ है कि शरीर पर वह गर्व अथवा ग्लानि मान सकता है। उसपर रीझ सकता है या खीझ सकता है। उसकी छिपाने की और छिपाकर उघाड़ने की सोच सकता है। यह सब आदमी के साथ इसलिये सम्भव है कि उसमें शरीर से कुछ अलग भी है। वह कह सकता है। मेरा शरीर, अर्थात् शरीर वह नहीं है; उसका है, उसके पास है। शरीर के प्रति

यह जो भेद का सम्बन्ध उसके लिये सम्भव है, उसी में से सभ्यता और संस्कारिता की सम्भावना निकली है । उद्यम निकला है, संगठन निकला है, सहयोग निकला है। उसीमें से यह चक्रव्यूह बन आया है, जिसे समाज और सभ्यता कहते हैं ।

निश्चय ही यह प्रगति है । द्रष्टा और दृश्य, ज्ञाता और ज्ञेय की यह पृथकता प्रगति का सोपान ही है । पशु जो है, है । मनुष्य जानता है कि मैं यह हूँ, यह नहीं हूँ, वह होना चाहता हूँ । अपने होने को वह जानता है । यही उसके होने की मानवीय विशेषता है।

एक प्रसंग याद आता है । सन् '३० रहा होगा । हम जेल में थे । वहाँ एक संभ्रांत बुजुर्ग सज्जन का भी आना हुआ । सारा जेल स्पेशल क्लास कैदियों का था । लेकिन स्नानागार कोई नहीं था, बाहर खुले नल थे । माँग हुई कि स्नानागार भी कुछ होने चाहिये। उस माँग से बुजुर्ग सहमत थे । लेकिन जब उन्हें मालूम हुआ कि वहाँ नग्न स्नान की सुविधा होती है, तो यह बात उन्हें और समझ नहीं आई ।

कहा गया, 'स्नानागार बन्द है तो नग्न स्नान में क्या कठिनाई है ?'

'लेकिन स्नान नग्न हो कैसे सकता है !'

'क्यों नहीं हो सकता ?'

'धोती उतार कर कैसे नहाया जा सकता है । नहीं, नहीं, यह नामुमकिन है ।'

उनके साथ तर्क ने काम नहीं दिया । धोती के बिना वह अपने को या किसी को कल्पना तक में लाने से सहसा घबरा आते थे । यह कि चारों तरफ गुसलखाने की दीवारें होंगी, दरवाज़ा बन्द होगा, उनको ढारस नहीं दे पाता था । 'अरे, तो होगा; पर धोती खोलना—यह कैसे हो सकता है ।' '···अजी निगाह तो किसी की न होगी तब । क्यों, उसकी खुद आँखें न होंगी ।'

इस भाँति नग्नता को स्वयं अपने प्रति स्वीकार करने में उन्हें कठिनाई होती थी । निश्चय है कि बिना धोती के स्नान करना

उनके लिये सम्भव न हो सकेगा। दूसरे के भी लिए सम्भव नहीं मान पाते थे।

तो अपने सम्बन्ध में हमें स्वयं आवरण की जरूरत रहती है। प्रकाश नहीं चाहते, ढकाव चाहते हैं। सामना नहीं चाहते, बचना चाहते हैं। यह ढकाव और बचाव सभ्यता के विकास के लिये बहुत उपयोगी हुए हैं। वे सर्वथा तर्जनीय और वर्जनीय नहीं हैं। बड़ा काम देते आये हैं, इतना कि जो नग्नता पशु के लिये सहज है, मनुष्य के लिये कष्टसाध्य हो आई है।

इसको कि नग्नता से हम बचते और बचाते हैं मैं मनुष्य के लिये शोभा और उत्कर्ष की बात ही मानता हूँ। उससे प्रमाणित है कि हम होकर ही सन्तुष्ट नही हैं, उठना भी चाहते हैं। समय हमारे लिये वर्त्तमान क्षण ही नहीं है, वह एक निरंतरता है, उसमें व्यतीत बीतता और अनागन आता भी है। तो यह जो अवर्त्तमान है, जो है से पहले है और आगे है, उसको हम शरीर से नहीं छू पाते हैं, मानसिकता से ग्रहण करते हैं। अर्थात् अपने में से कुछ को हम निंदनीय ठहराते और कुछ और को बन्दनीय मानते हैं। ऐसे हम उन्नति और प्रगति करते हैं। हमारे इस शरीर रूपी यंत्र में ही वह प्रक्रिया है जो हमारे अन्दर आवश्यक तनाव पैदा किये रहती है; वर्तन और बर्जन के भाव पैदा करती है। यह मानसिकता मनुष्य की थाती है। पशु स्वयं से भिन्न नहीं हो सकता। किंतु मनुष्य इधर देव तो उधर राक्षस बन सकता है। स्वयं अपने को लाँघ जाने की यह क्षमता उस मनुष्य की मानसिकता को प्रकट करतीहै। 'मैं नग्न हूँ, अच्छा मैं वस्त्र का निर्माण करूँगा···। मैं सभ्य हूँ, अच्छा तो मैं अब वस्त्र का परिहार करूँगा।' यह सब अतिक्रमण का भाव मनुष्य में ही संभव है। इस मानसिकता के व्यूह में से पार होकर ही मनुष्य सहज बनेगा। अन्यथा सहजता को स्वयं वह अशिष्ट और असभ्य ठहरा लेगा।

मनुष्य की यह भटकन नितान्त वृथा न मान ली जाय। शिशु से आरंभ करके अन्त में जो सन्त फिर शिशु होता है, सो इन दोनों

अवस्थाओं में अन्तर है और उतना ही है जितना भूखे की भूख और व्रती के उपवास में है। उपवास का पुण्य वह जान नहीं सकता जो भूखा है। भूखे के लिये खाने के रस से बड़ा कोई रस नहीं। उससे जो अघा गया है व्रत की महिमा वही पहचानता है।

इस तरह नग्नता को मैं बहुत महत्व की स्थिति मानता हूँ। नग्न ही नहा पाता है। अन्यथा स्नान अधूरा है। सत्य के अमृत से सृष्टि यह लहलहा रही है; लेकिन वह हमें छूता नहीं, हमको पवित्र और अमर नहीं कर पाता। क्योंकि हम पर लिपटाव है और निर्वस्त्र हम हो नहीं पाते। आवरण रखते हैं कि सृष्टि से हम छिड़े-भिड़ें नहीं और सत्य में मिले नहीं। अपने इस झीने से आवरण की क्षमता पर हम गर्व मानते रहते हैं। इतना बड़ा सूरज, लाखों करोड़ों योजनों से हम तक चला आनेवाला उसका प्रकाश, लेकिन ज़रा आँख मूंदने पर हम उस सबको समाप्त कर देते हैं। जब तक पलक ढकने को हमारे पास है तब तक सत्ता हमारी बड़ी हो रहती है, अपना सारा प्रकाश देकर सूरज छोटा ही रहता है। यही क्षमता हमारे वस्त्र में है। यों तो क्या उसकी हस्ती है। पर मोह डालकर हम उसे बीच में क्या लेते हैं कि सच से अपने को सुरक्षित कर लेते हैं। फिर क्या सत्य और क्या उसका प्रकाश—सब हमसे परे ही रहता है और हम अपने में आवृत और निभृत रहे चले आते हैं।

मनुष्य जगत् में मूर्धन्य है। वह श्रेष्ठ है, विभु है, प्रभु है, कारण, सवस्त्र है।

तमाम ब्रह्मांड में बताइये कहीं और भी वस्त्र है? चाँद पर, तारों पर, सूरज पर, वायु पर, व्योम पर है? कहीं पर्दा है, रोक है? कहीं भी और नहीं है, एक मनुष्य ने वस्त्र का आविष्कार किया है। किया है कि वह जगत् को देखेगा, सिर्फ अपने को नहीं देखेगा। कि अनिष्ट को, अप्रीतिकर को, अरुचिकर को ढक देगा और उसी को लेगा जो प्रिय है और इष्ट है।

पुरुष की यह प्रभुता उससे छिन जाती है अगर वस्त्र उससे छूट

रहते हैं। इससे सबसे बड़ा डर रहता है उसे अपनी नग्नता का। सबसे बड़ी निर्लज्जता भी उसके लिए यही है। लाख-लाख प्रयत्नों से वह अपने को ढकेगा और ढका रखेगा। वह नहीं पकड़ाई देगा अपनी ही यथार्थता को दूसरे किसी के हाथों। वह यों ही अपने स्वाभिमान को सुरक्षित और उद्ग्रीव रखेगा। क्या सच होता है और क्या झूठ। उसके स्वमान के आगे कुछ और है क्या। अतः वस्त्र की लपेट आवश्यक है, यह ड्राइंग रूम आवश्यक है, दुर्ग आवश्यक है, और भी बाहर प्राचीर आवश्यक है। फिर चारों ओर के लिए मिथ्या का सूक्ष्म पटल आवश्यक है। आवश्यक है कि इन सब तहों की लपेट चारों ओर से वलायित होकर उसे केन्द्रीय अभिमान में स्वप्रतिष्ठ रखे।

यह मनुष्य का स्वमान सभ्यता के निर्माण में सबसे मूल्यवान रत्न है। पत्थर हो, फिर भी रत्न है। उसको लेकर वह सचराचर सृष्टि पर अपने को शीर्षस्थ अनुभव कर आता है। किंतु इस चरम स्वास्थ्य के पार ही नग्नता के स्वाद का स्थान आता है। झुका अपने को वह सकता है जो सफल हो लेता है, लुटा वह सकता है जो सम्पन्न हो चुकता है। उसी भाँति पर को और सबको अपना वह सकता है जो आत्मवान हो जाता है। ढकना किसके प्रति? उघड़ना किसके प्रति? जिसकी आत्मता सिद्ध हुई, उसके लिए भिन्नता कहाँ रही। दिशाएँ उस पर नहीं, उससे होती हैं, इससे वह दिगम्बर स्वरूप है।

मैं नहीं जानता कि क्या बात है। क्या यह है कि जन्म से दिगम्बर जैन परम्परा में पला हूँ। जो हो, लेकिन दिगम्बरता के आदर्श की पकड़ मन पर से छूटती नहीं है। जितना सोचता हूँ जान पड़ता है जिसको आत्मता में नहा आना है, उसे नग्नता के डर को पहले उतार रहना है।

होगा कुछ जो कुत्सित है, घृण्य है, जुगुप्सा और लज्जाजनक है। पर कुत्सा और घृणा और जुगुप्सा और लज्जा ब्रह्मांड में कहीं और से नहीं आती हैं, हमारे अपने मानस में से उपजती हैं।

ब्रह्मांड निरावरण है, आवरण छोड़कर ब्रह्मांड के प्रति खुल आयें तो कहाँ रहता है वह सब कुछ जो कदर्य है। हवा अणु-अणु को सिहराती हुई हममें से छनती पार हो जाती है और कोने-कोने को पुलक से भर आती है।

ऊपर की स्थिति परमहंस और परमतीर्थ की ही चाहे हो, पर नग्नता का तत्व किसी-न-किसी अंश में हमारे जीवन में काम करता रहता है, तभी हम जीवित भी बने रहते हैं। कोई होता है जिसके प्रति हम अपने को ढकना चाहते ही नहीं, खुल आते हैं और वहाँ से प्राणस्फूर्ति पाते रहते हैं। अभागा है वह कि जो कहीं खुल नहीं पाता। ढका-ढका ही जो रहता है, कहीं जिसे सुविधा नहीं है कि लज्जा और ग्लानि से मुक्त होकर अपने को सर्वथा खोल रहे, वही प्राणी है जो अपने को घोटकर मारता है; नहीं यह कर पाता तो अपने को विक्षिप्त कर लेता है।

वह सभ्यता जो आवरणों के निर्माण में दत्तचित्त रहती है कि नग्नता से उद्विग्न आये, उसका भगवान ही मालिक है। क्योंकि अनिवार्य है कि उल्लंग बर्बरता का उसमें से जन्म हो।

और क्या आज की सभ्यता के ओर और छोर पर यह दोनों मुखड़े साफ नज़र नहीं आ रहे हैं ?

मई, १९६०.

अश्लील की रोकथाम ।

स्त्री और पुरुष के मध्य जो आकर्षण है वह परस्पर उन्हें आत्मदान में मिलाये बिना रह नहीं सकता । यह आत्म-विसर्जन और आत्म-दान की अनिवार्यता मूलगत और टिकनेवाली है । यह अब मनुष्य पर है कि उसे अध्यात्म वृत्ति से लेकर उपयोगी करे, या तिरस्कार के भाव से अवहेलित करे ।

कई बार पूछा गया है कि अश्लीलता की रोकथाम के लिये क्या किया जाना चाहिये । साहित्य में है, सिनेमा में है, विज्ञापनबाजी में है, समाज तक में उसका प्रदर्शन है । चरित्र बिगड़ रहे हैं । मर्यादा के तंतु झीने पड़े जा रहे हैं । सारी संस्कृति छिन्न-विच्छिन्न हो रही है । बताइये क्या हो ?

मेरा काम बताना नहीं है । लेखक का यह काम होता भी नहीं है । उपदेशक दूसरे जन होते हैं । वे पुरुष अधिक गंभीर और समर्थ होते हैं । लेखक असमर्थ होता है, या कि होना चाहिये । असमर्थ का आशय कि नेतृत्व नहीं ले सकता । वह चलाता नहीं है, मानो साथ चलना चाहता है । साधु के भी साथ, दुष्ट के भी साथ । कोई उसका अपना अलग मार्ग नहीं है कि सच्चा मानने की वजह से उस पर सबको चलाना चाहे । सब अपनी-अपनी राह चल रहे हैं। भीतर सभी अकेले हैं और निस्संग । राह अकेले दूभर होती है, पर क्या करें। लेखक यहीं सबके साथ को उद्यत होता है । किसी का यह वाद है, दूसरे का दूसरा वाद है । एक धर्म, अथवा इतर धर्म । अमुक मत अथवा पृथक मत । इस सबके बीच लेखक वह है जिसका अपना कुछ नहीं है, किसी की मति अथवा मत को वह अपने लिए नहीं माँगता । इससे सहानुभूति उसके पास मुक्त है कि

सबको दे। अतः वे दया नहीं करते हैं जो लेखक से मार्गनिर्देश चाहते हैं। चाहते हैं कि अपना हाथ उसके हाथ में दे दें और ऐसे अपना खटका टाल दें। नहीं, लेखक वह प्राणी नहीं है। मैं तो हूँ ही नहीं।

अश्लीलता की रोकथाम वाला काम ज़रूरी न हो सो नहीं। ऐसा हो तो सरकार को या नेता को करने को क्या रह जाय। जो कुछ वे करते हैं ज़रूरी ही होता है। लोकहित में करते हैं और अनिवार्य होता है तभी करते हैं।

पर अपना-अपना स्वधर्म है। सच में रोकथाम कर पायेंगे वे जो अश्लील को जानते होंगे। उसका ठौर-ठिकाना जानते होंगे, उसके तौर-तरीके जानते होंगे। मुझे उस सबका पता नहीं है।

लेकिन एक मित्र के घर की बात है। एक दिन पुस्तक तकिये के नीचे ही रह गई। यों ताले में रहती थी। तकिये के नीचे से कन्या के हाथ आई। वहाँ से इधर-उधर वालों की निगाहों में भी पड़ी। मित्र परेशान थे। पुस्तक अश्लील थी। लेकिन उसका ताले में और तकिये में रखना क्या था? मैं तो मानता हूँ कि यह ही अश्लील था। कह सकते हैं कि यह था इसलिये पुस्तक अश्लील थी।

आप दुकान पर जाइये, आपको अमुक पुस्तक की आवश्यकता है। पुस्तक वह आप कहीं सामने नहीं देखेंगे। बेझिझक पुस्तक नहीं माँगेंगे। एकांत होने पर मुस्करा कर संकेत से कहेंगे। वह भी ढके-दबे पुस्तक आपको देगा। या हो सकता है कि पहल उसकी ओर से हो। तब वह इशारों से भाँपेगा और पूछेगा।...यह गुप्त व्यवहार और व्यापार, आप मानिये, अश्लीलता है।

अश्लीलता की सृष्टि कहाँ से है, मैं जानना चाहता हूँ। प्रेम में से है? लेकिन प्रेम तो पवित्र है। काम में से है? लेकिन काम को विवाह में अभिमंत्रित करके तो हमें गृहस्थ आश्रम प्राप्त होता है; माता-पिता प्राप्त होते और शिशु प्राप्त होता है। कितने उछाह से और स्नेह से बुजुर्ग लोग नवदम्पति की सुहागरात की व्यवस्था करते हैं। क्या कहीं भी उनके चित्त में मैला रस होता है।

उन सबके हृदयों में तब प्रसन्न और प्रशस्त भाव हिलौर लेता रहता है।

तब अश्लीलता की सृष्टि है, तो कहाँ है ? आकर्षण स्त्री और पुरुष को अपने बीच निसर्ग से प्राप्त हुआ है। उसको काव्य ने सजाया संवारा है। यहाँ तक कि धर्म ने महिमामंडित किया है। उन रचनाओं को हम मस्तक झुकाते और कृतार्थ अनुभव करते हैं। यह आज कुछ जन चाहे कह उठे हों, पर कभी किसी ने इसमें जुगुप्सा का अनुभव नहीं किया है।

प्रकृति में तो अश्लीलता हो नहीं सकती। सत्य में उसे स्थान कहाँ है। ईश्वर की ओर से वह आ कैसे सकती है। फिर भी मानना होगा कि वह है। प्रश्न है कि कहाँ से है ?

बहुत पहले इस पर चर्चा चली थी। एक माने हुए नीति-विचारक ने परिभाषा दी थी, जो वीर्य-वमन को उत्तेजन दे, वही अश्लील।

मैं उसकी याद करता हूँ तो जैसे अश्लीलता की गंध पा जाता हूँ। मुझे वह परिभाषा स्वयं अश्लील जान पड़ती है। शायद उन नीति-विचारक ने माना हो कि वह निर्भीक वैज्ञानिक हो रहे हैं जब इस परिभाषा को प्रस्तुत कर रहे हैं। लेकिन उन शब्दों में मुझे प्रकृति के स्वीकार से भय मालूम होता है। वीर्य-वमन शब्द किसी मानसिक स्वास्थ्य का परिचायक नहीं है।

स्त्री और पुरुष के मध्य जो आकर्षण है वह परस्पर उन्हें आत्मदान में मिलाये बिना रह नहीं सकता। यह आत्मविसर्जन और आत्मदान की अनिवार्यता मूलगत और टिकनेवाली है। यह अब मनुष्य पर है कि उसे अध्यात्म वृत्ति से लेकर उपयोगी करे, या तिरस्कार के भाव से अवहेलित करे।

एक मानसिकता है जो संसार में मलिनता ही देखती है। इसलिए वह परम निर्मलता को कहीं किसी अपरलोक में प्रतिष्ठित करने में तृप्ति पाती है। संसार उन्हें हेय है; उपादेय है वह मोक्ष जो एकदम दूर और कहीं अलग है। ऐसे वह संसार को और शरीर

को काट-छाँटकर निर्मल आत्मकैवल्य प्राप्त कर लेना चाहते हैं।

ओह, इसकी दृष्टि पड़ गई, गज़ब हो गया।...वह छू गया, नहाओ।...शूद्र है, छिः छिः, हटाओ।...यह मंदिर है, शिव शिव, अस्पृश्य न आ जाये !...यह क्या, आप कमरे में अकेले थे ? ओह, एकांत में और स्त्री से बात ! यह सब उद्गार जिस मनोदशा के द्योतक हैं, उसे स्वस्थ नहीं कहा जा सकता।

एक मोरल रिआर्मामेंट नाम का आंदोलन है। मैं स्वयं मोरल का कायल हूँ। मानता हूँ कि जिससे ब्रह्मांड और संसार टिका है, हम टिके हैं, वह नियम नैतिक है। अतः कोई आंदोलन नैतिकता का हो तो मुझमें उसके प्रति अभिलाषा जागे बिना रहती नहीं। लेकिन स्विटज़रलैंड में इन बंधुओं के बीच रहने का अवसर आया तो अजब अनुभव हुआ। बाकी सब बहुत ठीक, बहुत स्निग्ध, बहुत सौजन्यपूर्ण था। व्यवस्था ऐसी कि आदर्श। व्यवहार मीठा कि मिसरी। पर जैसे आदमी और आदमी के बीच वृत्ति में वहाँ संशय और अविश्वास हो। जैसे हर दो का काम यह हो कि वे एक दूसरे की त्रुटि को पाएँ। जैसे एक दूसरे पर नैतिक पहरेदारी रखना कर्त्तव्य हो।

पहुँचने के तीसरे रोज़ मेरे साथी ने मुझे कहा कि यह उनकी रात सही नहीं बीती। सदोष रही और बेचैनी रही।

साथी कोई पैंतालीस पचास के बीच के अंग्रेज़ सज्जन थे। बहुत ही सदाशय, उदार, योग्य। बेहद तत्पर और परायण। मित्र की दृष्टि से नम्र और सेवाभावी। बड़े डाक्टर थे और ऊँचे ओहदे पर रह चुके थे।

अपनी बात कहकर उन्होंने मुझसे पूछा। मुझे किसी तरह का कष्ट इन तीनों रातों में अनुभव न हुआ था। मैंने यही कह दिया।

कहने पर उनके चेहरे को जो मैंने देखा तो मुझे गहरी सहानुभूति हुई। जैसे उन बेचारे को वंचित रखा गया हो। उन्हें आशा थी कि दोष मिलेगा। पर तीनों रातें मेरी निर्विघ्न नींद की बीती थीं।

अपने साथ का क्या दोष उन्हें ढूँढकर दूँ ? वह कम्बख्त नींद ही ऐसी गहरी आई थी। उस समय उन बंधु के चेहरे की निराशा देखकर मुझे लगा कि जैसे यह मुझसे पाप हो गया हो कि मैंने तीनों रातें निर्दोष बीतने दीं। एकाध दिन तो स्वप्नदोष होना ही चाहिये था। दोषी बनकर ही मैं उन्हें तृप्ति दे सकता था। उनकी आशा पूरी नहीं कर सका तो जैसे यह मेरे लिए बड़े ही खेद की बात थी !

नैतिकता का ऐसा आग्रह जो हर कहीं अनीति सूँघने को व्यग्र रहता है, मुझे लगता है कि एक ही साथ अश्लीलता और दंभ पैदा किये बिना नहीं रह सकता।

इसी नैतिक आंदोलन और मतोत्साह के वातावरण में मैंने देखा कि लोग बद-बदकर मंच पर आते और ऐसे-ऐसे अपने दुष्कर्मों का बखान करते हैं जो उन्होंने कभी किये ही नहीं हैं। उन दुष्कर्मों को सोचकर इसलिए बनाना पड़ता था कि उनकी स्वीकृति पर उतनी ही गहरी वाहवाही उन्हें मिलती मालूम होती था !

अपने को ऊँचा मानने में दर्प को एक सुख मिला करता है। उसी तरह का सूक्ष्म अभिमान का सुख अपने को खुलकर नीचा बनाने में से लोग लिया करते हैं। दोनों अनिष्ट हैं। दूसरा अधिक इसलिए कि उसकी चुस्की में नम्रता का भ्रम मिला रहता है।

दोनों ही अप्राकृतिक आचरण हैं और मेरे निकट अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है कि अश्लील प्रकृत नहीं है, अप्राकृतिक है। अर्थात् अश्लील वस्तु के साथ नहीं है, कृत्य के साथ नहीं है वह असत्य के और छल के साथ है। प्रकृत आचरण अश्लील कैसे हो सकता है ! पर सभ्य लगनेवाला आचरण भी अश्लील हो जाता है जब उसकी असत्यता उघड़ी और प्रगट दीख आती है।

आदिवासियों में, गोंडों में, संथालों में, नग्नप्राय युवतियों को मैंने खुलकर काम करते और नाचते-गाते देखा है। अश्लील शब्द कहीं भी दिमाग में तब नहीं उठा है। उसके विपरीत कोठे पर बैठी सजी स्त्री को देखा है जिसका कण-कण आवरण से आवृत था। कपड़े इतने थे कि आवश्यकता से अधिक। हाथों की उँगलियों के

पोर-पोर जैसे आभूषण से ढके थे । चेहरे पर तमाम रूज़, पावडर की पर्त थी । कोई अंश न था जो सहज और निरावृत हो । लेकिन देखकर सारा मन भीतर ही भीतर अश्लील अश्लील कह उठा । क्योंकि कपड़े वे मानो घोषणापूर्वक पूछ रहे थे—आओ, मुझे विवस्त्र देखोगे ?

क्यों ? क्योंकि एक जगह निश्छलता थी । दूसरे उदाहरण में छल ही छल था । शरीर दर्शन के साथ अश्लीलता हो सकती तो परिणाम उलटा होना चाहिए था । पर वैसा नहीं हुआ तो साफ़ है कि अश्लीलता का संबंध मनोभाव से है । झूठ बिना अश्लील हो सकता नहीं और जहाँ झूठ है वहाँ अश्लीलता के बीज अवश्य हैं ।

एक संभ्रांत मित्र की याद आती है । वह अब हैं नहीं । उनके जैसा शाइस्ता आदमी दूसरा कोई मुझे मिला नहीं है । उनकी एक अंतरंग गोष्ठी थी । स्वयं उर्दू के साहिायिक थे और गोष्ठी में मेरा प्रवेश निषिद्ध न था । ओह, क्या गन्द वहाँ बकी और बिखेरी जाती थी कि कह नहीं सकता । गोष्ठी का प्रत्येक सदस्य शिष्ट, सभ्य, कुलीन था । फिर यह क्या ?

लेकिन यही है । सभ्यता हमारी प्रकृत नहीं है तो निश्चय रखिये कि ढकी असभ्यता कहीं न कहीं हमारे भीतर खुल खेलना चाह रही है । और जैसे व्यक्ति का भीतर होता है, समाज का भी कुछ ढका हुआ भीतरी-सार हुआ करता है । समाज के ये दोनों रुख़ एक दूसरे को थामे हैं । वह शालीन और शानदार जो ऊपर अपनी आनबान से प्रभावित करता है, नीचे इस वीभत्स और फूहड़ से जुड़ा रहता है !

अश्लीलता का प्रश्न इस तरह सभ्यता का प्रश्न है । सभ्यता कृत्रिम है, तबतक अश्लीलता की रोकथाम जितनी की जायेगी उससे वह अश्लीलता दब-दुबककर उतने ही घोर रूप में दूसरी जगह फूटे बिना न रहेगी ।

लोग संसर की बातें करते हैं, ज़ब्ती की बातें करते हैं । वह सब ठीक करते हैं । वह ऊपर के लोगों के तरीके हैं । मुझे लगता

है कि अश्लीलता के लिये उपाय ऊपरीपन के और ऊपरी स्तर के सुधार से ही शुरू करना होगा।

सच पूछिये तो सभ्यता हमारी अश्लील है। वह छल और झूठ से अपना नाता तोड़ना नहीं चाहती। वह प्रेम पर संशय करती है। वह दोष की खोज रखती है। मानव पर उसे विश्वास नहीं है। प्रकृति पर उसे शंका है। पैसे से ढकती है उसे जो है, और लिबास से और शिष्टाचार से। जीवन, इस नैतिक और औपचारिक के दबाव के कारण, अनौपचारिक क्षेत्रों में अश्लील वृत्तियों के साथ मुक्त क्रीड़ा में उतर आना चाहे तो इसमें विस्मय क्या है!

नैतिकता के ढकनों को ऊपर से दाबने से अनैतिकता शांत समाप्त हो जाय, यह असंभव है। सच यह कि अहंमन्य नीतिवाद का दबाव अनैतिक आचरण को और हठीला और बेहया बना देता है। क्योंकि नीति का दर्प अनीति में प्रतिदर्प उत्पन्न करता है। तभी देखते हैं कि कानून के डंडे से अपराध का कौशल नये-नये आविष्कार की सूझ ही पाता है, मंद और परास्त तनिक नहीं हो पाता। अपराध और अश्लील की रोकथाम के लिये मुझे लगता है कि नीतिवादी और शासन-दंडवादी वृत्ति में परिष्कार आने की आवश्यकता है। आवश्यकता है कि वे लोग शालीन चाहे कम समझे जायँ पर अपनी जगह पर प्रकृत बनें। सभ्य चाहे कम हों ईमानदार अवश्य रहें।

जुलाई, १९६०.

स्मशान

खण्ड 2

यमराज

मृत्यु जैसे काल का कराल आघात है। वह आघात विकराल है। उसकी क्रूरता दुर्दान्त और दारूण है। इसलिए नहीं कि यमराज का रूप ही वैसा है, बल्कि इसलिए कि वह हमारे ही भय का रूप है, कल्पना की विकृति है। वस्तुतः विधाता की ओर से ये जो यमराज हैं, वही तो धर्मराज है।

एक पुरानी किताब में चंगेज़ खाँ का चरित्र पढ़ा था। शायद पुस्तक समकालीन थी। चंगेज़ खाँ से बड़ा विजेता इतिहास में हुआ नहीं। वर्णन था कि अन्त समय उसे मौत का कितना डर था!

तालस्ताय के बारे में अभी एक लेख मिला है। मौत से तालस्ताय बहुत डरते थे।

कल गुरुदेव रवीन्द्रनाथ की चर्चा हो रही थी। अनुमान था कि मृत्यु से उनकी मैत्री रही होगी। पर पाया गया कि रवीन्द्रनाथ को उसका गंभीर भय था। अन्तिम वर्षों में उन्होंने मृत्यु के अभिनन्दन और स्वागत में जो अनेक कविताएँ लिखीं, उन्हीं से खटके का कारण मिल सकता था कि यह अतिरिक्त प्रीति क्यों? जान पड़ा, कुछ भय है जिसे भगाने के लिए प्रीति के आवेग का आग्रह है।

मृत्यु हमलोगों के लिए भयकारी ही है। कौन है जो होने में राग नहीं रखता। न-होना ऐसी स्थिति है कि जहाँ विचार तक नहीं जा सकता। कुछ लोग आत्मघात कर लेते हैं, तो वे असल में न-होने का सामना नहीं चाहते, होने का उत्कट राग उन्हें मृत्यु तक भेजता है। यानी आत्मघात जीने की विकट लालसा में बनता है। हम किसी की याद में काँटा बन रहें, इस हिंसा में जीने के लिए वे मरते हैं। लगता है कि ऐसे वे हमेशा 'उस' से बदला लेते रहेंगे।

जीवन की लालसा में हत्या की जाती है, तो अपघात अपने पर उलटी पड़ी हत्या है। न-होना किसी तरह अपनाया नहीं जा सकता। इससे मृत्यु का भय अनिवार्य हो जाता है।

कौन नहीं जानता कि मरना है। पर उस पर आँख बन्द रखना भी उतना ही हमारे लिये ज़रूरी होता है। जानते हुए अनजान बनें तब जीना हो पाता है। यह यम क्या है, जाना नहीं जा सकता। अपनी अपेक्षा से जितना-जो होता हुआ हम पाते हैं, मृत्यु उस सबकी समाप्ति है। देहान्त कहते हैं, पर वह सर्वान्त ही है। वह अन्त है जो सर्वथा सिद्ध है। इससे कहिये कि मृत्यु ही एक सिद्धांत है।

लोग हैं जिन्हें सिद्धांत से काम नहीं। काम वह जीने से रखना चाहते हैं। इसलिये जीते बने रहना और जीते चले जाना चाहते हैं। सिद्ध अन्त के बारे में भूले रहना चाहते हैं। भूल को अपनी याद में ठसा कर इतने भरे रहना चाहते हैं कि दूसरा कुछ वहाँ समा न सके। सदा रहने अर्थात् न-मरने के लटके चाहते हैं। आये-दिन खबरें सुनते हैं कि ज़िन्दगी को लम्बा करने का यह अविष्कार निकला है, वह नई जड़ी-बूटी मिली है, इत्यादि।

होकर फिर एक दिन न-हो-जाने की कल्पना असह्य और असंभव होती है। यद्यपि देखते हम यह नित्य हैं। कल था, आज एकदम नहीं है। शुरू मेरी ज़िन्दगी हुई तो माँ सब कुछ थीं। दिन आया कि वे सदा के लिए नहीं हो गईं। सपने में यों कई बार मैं उन्हें खींच लाकर देख लेता हूँ। पर उतना ही और अनुभव पाता हूँ वह सर्वथा नहीं हैं। हर होना देखते-देखते नहीं होता जा रहा है। लगता है जैसे होने का रूप ही यह है। जीना और किसी चीज का नाम नहीं है। जो एक दिन मरता है, वही कुछ दिन जीता है। मरना जहाँ नहीं है, वहाँ जीने को भी समझना मुश्किल हो जाता है। ईश्वर मर नहीं सकता। इसीलिये यह कहना झूठ बन जाता है कि वह जीता है। जीना मरने के साथ है। इसी से ईश्वर को है कहो या नहीं कहो, एक ही बात है। सत्, जो वर्त्तमान और प्रवर्त्तमान रूप में नहीं दीखता, असत् भी है।

बात शायद सूक्ष्म शब्दों में ऊपर खो-सी गई लगती हो, पर एकदम साफ है कि जीने वाले के लिए मृत्यु अगम है। वह उसे किसी पद्धति से जान ही नहीं सकता। सूरज अँधेरे को कैसे जान सकता है ? इसलिये जीवन के लिए मृत्यु का बिचार सर्वथा अनावश्यक विचार होना चाहिए। अर्थ पूरा हो जाता है तो जैसे वाक्य के आगे पूर्ण विराम लग जाता है, वैसे ही वह विराम है। अर्थ से उसका सम्बन्ध नहीं है। भाषा में विराम का आशय है कि आगे वाक्य दूसरा है, जिसका अर्थ दूसरा है। हम जानते हैं, इन छोटे-छोटे वाक्यों से भाषा बनती है। बिराम बीच में न हों तो सार्थकता लुप्त हो जाय। विराम में अर्थ नहीं है; लेकिन भाव को यदि प्रकट होना हो तो अर्थवाही शब्द और वाक्य को एक दूसरे से अलग रख कर ही उन्हें मिलानेवाले विराम-चिह्न भाषा-प्रवाह के लिए आवश्यक बनते हैं।

ऐसे वह लोग जो मृत्यु को जीत कर व्यक्ति को अमर बनाना चाहते हैं, जीवन के मित्र नहीं, शत्रु ही बनते हैं। जीवन में वे हल नहीं होते। मानो विराम के भय से परिचालित होते हैं और भाषा की आत्मा में अपने शब्द के महत्त्व को लेकर मिलना और खोना नहीं चाहते। वाक्य एक रहे, समाप्त कहीं हो ही नहीं, तो भाषा नहीं बनती। यह पेड़ खड़ा है, दो-ढाई सौ वर्षों की उमर होगी, कहते हैं इतना और भी जियेगा। लेकिन जीवन के अर्थ के लिए कोई उसे ध्यान में नहीं लेता है। वह हिलडुल जो नहीं सकता है, सो अविचारणीय ही है। हलन-चलन वाली जिन्दगी में से यह हिन्द-स्वराज्य की राजधानी नई दिल्ली जो बनी तो देखते-देखते चार की पचीस लाख उसकी आबादी हो गई। सड़कें चौड़ी हुई और वह हमारे महाशय बट वृक्ष, जो जटा लटकाए मानो सनातन भाव से वहाँ खड़े थे, एक दिन नंगे-बूचे बना दिये गये। शाखें, टहनियाँ एक-एक कर इस बुरी तरह काट दी गईं कि क्या कहिये। कोढ़ से टुंडी बनी हुई उँगलियों वाले हाथ जैसे घिनौने दीखते हैं, वही उन बट महाशय का हाल हो आया। फिर एकाध दिन बाद

उनको जड़ से उखाड़ डाला गया। जड़ समेत बट का टुँडा दो-चार दिन आँखों के सामने पड़ा बड़ा वीभत्स लगता था। अब वहीं फैज बाजार की चौड़ी सड़क है और गुलजार मालूम होती है।

क्यों ? क्योंकि ज़िन्दगी चल रही है। दिल्ली बढ़ रही है। चू-इन-लाई आज यहाँ से जा रहे हैं, कल नासर आये थे और गये। परसों ख़ू श्चेव और तरसों आइज़न हावर। यह दिल्ली की ज़िन्दगी बताइए कैसे रहेगी, कैसे बढ़ेगी, अगर रास्ते के पेड़ों को काटा-उखाड़ा न जायगा।

तो यह मृत्यु नहीं है जो हमको अपनी मृत्यु लगती है। यह ज़ीवन है। सिर्फ हमारा नहीं है, हमसे बड़ा है। इसलिये उस राह जब हमारा अन्त माँगा जाता है तो हमें लगता है जैसे जीवन का अन्त है। यहाँ खड़े बट साहब अपने बारे में यही सोचते होंगे। लेकिन बडे काम आये थे वह जब खडे थे। छाया देते थे, पक्षियों को बसेरा देते थे। गिरकर भी उन्होंने लकड़ी, ईंधन और जाने क्या-क्या न दिया होगा। पर सबसे बड़ी बात यह कि उखड़ कर उन्होंने दिल्ली की ज़िन्दगी को रास्ता दिया !

तो मरना जीवन को राह देना है। हम कहीं अड़ बन गये होते हैं। काम आ चुके होते हैं और समय हमको समाना चाहता है। लेकिन जैसे एक दिन होकर और कुछ दिन रह कर हम बिसर जाते हैं कि यह होना-रहना काल का ही खेल था। उस खेल के लिए ही अब हमारा न-होना संगत हो गया है। चल तो वह खेल रहा है। हम चलते लगते थे ठीक। पर काल के चलाये चल रहे थे। उसने जाने किस निमित्त से एक दिन हमें कर दिया। तो उस निमित्त से अलग हमारे होने का दावा भला क्या हो सकता है? निमित्त हुआ कि हमारा अपना होना पूरा हो गया। इस थोड़ी-सी अवधि में हो गया हुआ हमारा अपनापन सत्य था तो केवल तात्कालिक वर्तमानता की अपेक्षा में। अन्यथा काल की अजस्र जय-यात्रा में वह तो एक मिथ्या भ्रम ही था। उस महा सत् के सागर के बीच बूंद की 'मैं' असत् नहीं तो क्या है !

हाय रे मैं ! मैं हूँ, अनादि हूँ, अनन्त हूँ, यह हूँ, वह हूँ । ठीक है मैं हूँ, और यह सब भी हूँ । लेकिन जब कि मैं मैं नहीं हूँ, तब सबका जो मैं है उसमें तत्सम हो गया हूँ । वह मैं कि सब भी जिसका पार नहीं है । जो अकाल है, और काल जिसका केवल एक आयाम है । वह सत् जो सबकी वर्त्तमानता और प्रवर्त्तमानता से परे है । भूत और भविष्यत् जिसमें ऐसे हैं जैसे प्रवाह में बुदबुद । वह अगाध-अनंत सत् है । वही मैं हूँ, अगर स्वयं के लिए स्वेच्छा से न-होना उपलब्ध कर आता हूँ ।

वह है, वही है । इससे अन्त में, मृत्यु के रूप में आये हुए क्षण में, ही मैं नहीं मरता, बल्कि नित-नित और प्रतिक्षण मरता रहता हूँ तब मैं अमर बनता हूँ । क्योंकि तब मैं मृत्यु में जीता हूँ । मरने में से जीता हुआ ही जो अमर बनता है अमर रहता है ।

इस तरह यमराज धर्मराज हैं । अंतरंग में वह भयंकर नहीं हैं, प्रिय हैं । उनमें दाक्षिण्य है, कारुण्य है । उनमें मातृत्व है, पितृत्व है । शिशु उत्पात करता है, क्रीड़ा में भूला रहता है । यह सब शक्ति जहाँ से उसे आती है, अन्त में हार कर उसी माँ की गोद में आ सोता है । यम वही गोद है ।

'गृहीतइवकैशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्' । मृत्यु सिर पर आ खड़ी है, यह जान रखकर तू धर्म वर्तन कर । सिर पर आई का मतलब यह नहीं कि डरकर कर । डर से जो होगा वह आचरण अधर्म का होगा । हाय, अब तो घड़ी आ ही पहुँची, अब क्या और क्यों रुकना, क्यों न मन की एक-एक साध पूरी कर लूँ । मौत के साथ यह सम्बन्ध उल्टा है और डर का है । तब सचमुच मौत आती और वृथा रह जाती है, जिस सहायता को लेकर आई थी दे नहीं पाती । आगे की यात्रा का जीव को पता नहीं है । यात्रा है, इसका भी पता नहीं है । सिर पर मृत्यु है का अर्थ है कि यम का वरद स्पर्श प्रतिक्षण प्राप्त है । ऐसा अनुभव करनेवाला प्राणी जान रखेगा कि जीवन-यात्रा का कहीं अन्त नहीं है, क्योंकि काल का अन्त नहीं है । उस अनन्तकाल की यात्रा के लिए यम में वह एक साथी को साथ

अनुभव करेगा। भूलेगा नहीं कि यह जो उसकी कतिपय दिनमान की संक्षिप्त संसार-यात्रा है उस शाश्वत यात्रा का भाग ही है। तब यम का वह कृतज्ञ होगा, उसका सहारा थामेगा। मुख उस अनंत के प्रति होगा, पग उधर होंगे, तो साथी का काम आसान होगा। मेरा काम आसान होगा और अनंत-यात्रा का अन्त ऐसे जल्दी पास आयेगा।

यह लीला जो दीखती है, किसकी है ? उसका पता हम कभी पा नहीं सके हैं। स्वयं होकर उस होने-अनहोने के पारवाले को कैसे जानेंगे। जानने की साग्रह चेष्टा आस्तिक्य को खा जाती है और लौट कर अस्तित्व के राग को बढ़ा जाती है। महत्त्वाकांक्षा में तब हम भागते हैं, भूल जाते हैं कि अपने भीतर के भय से केवल यह बाहर की तरफ भागना है। जीतते हैं देश, और धन, और पद और प्रतिष्ठा; अपने को बहकाते हैं कि यह जीतना है। सच यह कि अपनी भीतर की हार के सामने से यह बचना ही हैं। बचाव के लिये यह परदा और धोखा अपनी ही आँखों के आगे लाने को हम खड़ा करते हैं। नहीं तो क्यों है कि यह जेता और नेता, मनस्वी और तपस्वी, सत्ता और सत्त्वशाली काँप जाते हैं, जब अन्त देखते हैं। जीत कहाँ उनकी चली जाती है ? होती वह जीत तो उनके ही प्राणों में वह हार बनी क्यों दिखाई देती है ?

और यह हाल सबका होता है। उन सबका जो अपने लिए महत्त्व और महिमा का सम्पादन करते हैं। जो जितना बड़ा बना, मरना उसके लिए उतना ही विषम हो गया। भय को उतनी भीमता मिल गई, मृत्यु को निर्ममता, जितनी हमने अपने को ममता दी। ममत्व पर जैसे यमत्व काल का कराल आघात हो। वह आघात विकराल है, उसकी क्रूरता दुर्दान्त और दारुण है। इसलिए नहीं कि यमराज का रूप वह है, बल्कि इसलिए कि वह हमारे ही भय का रूप है, हमारे विकार की परिणति है। धर्म में से अपने को समझेंगे तो दीखेगा कि यमत्व स्वत्व है हमारा और सत्य है समग्र सृष्टि का। ममत्व यहाँ मिथ्या है। जो हो रहा है सब इसी

शर्त पर कि फिर-फिर होने के लिए मिटता जायगा। इसीसे विधाता की ओर से यमराज हैं जो धर्मराज हैं। जीवन उन धर्मरूपी यम की सुरक्षा में कभी क्षुण्ण और रुद्ध नहीं हो पायेगा। कारण, मृत्यु का मंत्र उनके पास है; उससे जीर्ण नवीन बनता है। जो नित्य सनातन है वह मृत्यु द्वारा पुरातन को नित नूतन रूप में प्राप्त करता है। ऐसे ही सनातन नित नवीन और लीलामय रहता है।

अप्रैल १९६०.

मृत्यु का वरदान

मैं मृत्यु का कायल हूँ। जीवन से अधिक उसका कायल हूँ। वह परमेश्वर का वरदान है। मैं मृत्यु को समाप्त नहीं चाहता हूँ। उसके बिना जीवन असह्य हो जायगा। क्षण मरता जाता है कि समय जिये। व्यक्ति को मरते रहना चाहिये कि विराट जी सके। आदमी मरे नहीं तो निरन्तरता किस तरह अजस्र रह सकती है। इसलिये जीवन में मृत्यु का विचार मुझे परम कल्याणमय जान पड़ता है

तीन बजे होंगे, घर पहुँचते ही घबराई पत्नी ने कहा–'सुनो, शास्त्री जीका देहान्त हो गया। फोन आया था।'

'क्या-आ, कब?'

'फोन था कोई दो बजे। अस्फताल से उन्हें शाहदरे ले जाने बाले थे। तुम कहाँ जाते हो? दूर से आये हो, वे जा चुके होंगे।'

'अस्पताल–'

'लेकिन वहाँ अब कौन होगा?'

सुनने को ठहरा नहीं, मैं चल दिया। कहा–'तुम भी तैयार हो जाओ। अभी दफ्तर जाकर पूरी खबर लेता हूँ। तुम्हें साथ चलना है।'

झपटकर दफ्तर आया। मालूम हुआ, कोई आधा घण्टा हुआ चन्द्रसेन यहीं से गये हैं। शास्त्रीजी की देह को शहादरा ले जाने की बात थी।

'क्या, ले जा चुके होंगे?'

'हो सकता है।'

टैक्सी मंगाई, भगवती को साथ लिया और अस्पताल पहुँचे।

देखा, बाहर खुली धूप में लावारिस की तरह एक कम्बल से ढका शास्त्रीजी का शरीर स्ट्रेचर पर पड़ा है। भाभी हाथ से उसका किनारा थामे खड़ी हैं। हाल बेहाल हैं, केश बिखरे हैं, आँखों में ढ़लते आँसू हैं। पहुँचने पर वह एक साथ गले लगकर फफक पड़ीं। अलग हुईं तो कहा—भाई साहब, देखिये तो, देखिये तो, अपने शास्त्रीजी को देख लीजिये !

कहकर चेहरे पर से कम्बल हटाया। चेहरा वही था, सिर्फ़ ज़र्द था और सो रहा था और यह उसकी नींद अनन्त थी। उस चेहरे को अब कुछ कहने को न था, कुछ सुनने को न था। वह कि जिससे यही चेहरा स्मित और स्पन्द से सदा खिला दीखता था दूर जाने कहाँ चला गया था। पत्नी थी, कन्या थी, संगी साथी आस-पास सभी थे, एक वही न था। वह कि जिससे जड़ जीव होता है, इस शरीर से उठ गया था। इसलिए वह शरीर अब स्मृतियों को ही चेता सकता था, इससे अधिक कुछ नहीं कर सकता था। कारण, जो करता धरता था वह बसेरा छोड़ चला गया था। उसने जीवनभर काम किया था। सैकड़ों की संख्या में पुस्तकें लिखी थीं। और वे सैकड़ों ही विषयों पर थीं। वह जो अथक रहा था, अपने मन में उठती हुई उद्भावनाओं को कलम की राह स्याही से कागज पर उतारकर उन्हें मूर्त, स्थिर और स्थायी करने में जिसने दिन को दिन और रात को रात नहीं गिना था; जो मृत्यु की आवाज़ सुन-कर भी नहीं सुनता था, जो जीवन को इस तरह अमृत बनाये चलता था, वह पुरुष अपने अस्थिपंजर से छूट भागकर अन्तर्द्धान हो गया था !

'भाई साहब, देखिये, देखिये, अपने शास्त्रीजी को देखिये। देखिये, उन्हें ज़रा बुलाइये तो–'

लेकिन शास्त्री तो सब शास्त्र-शस्त्रको छोड़कर अपने धाम जा पहुँचा था। इससे हमारा विलाप सब ओर उसे ढूँढकर अपने पर ही वापस आ लौटता था।

मैंने कहा--भाभी, ऐसे नहीं चलेगा। देखो तुम्हारी बेटी है,

देवर हैं, भतीजे-भतीजी हैं। जो गया वह तो अपना काम पूरा कर गया। अब जो घर के बचे हैं सब तुम्हीं पर तो हैं। बचा-खुचा करना भी अब सब तुम पर आ गया है। ठीक है, फफककर दुःख निकाल सकती हो। पर अगर उसे संजो कर रखोगी तो वही आगे के बड़े काम आ सकता है। उठो, लो संभालो।

यह सब शब्दों में कहा नहीं गया। कहा कैसे जा सकता था? पर भाभी जानती थी कि दुःख विलाप से बह नहीं जाता। सहने को वह तो रहे ही चला जाता है।

और हमारे लिये शेष अब यही था कि उस काया को हम निःशेष कर दें। वह किसी तरह रह न पाये। जब शरीर में से सार निकलकर इस महाशून्य में जा खोया है तो आओ, इस शरीर को भी भस्म करके हम महाभूत में विसर्जित और स्वाहा कर दें। सो जमना गये, चिता चेताई, और दाह देकर अन्त्येष्टि संस्कार समाप्त किया।

घर लौटा तो नौ बज रहा था। भगवती ने कहा--

'आले में पत्र रखा है। प्रेमीजी नहीं रहे।'

पत्र पढ़ा। यशोधर-विद्याधर दोनों के नीचे नाम थे। उनके दादा नाथूराम प्रेमी स्वर्ग सिधार गये थे!

समझ न आया कि यह क्या होने जा रहा है। नाथूरामजी से मैं लेखक बना था। उससे पहले पता न था कि लिखा छपता भी है और छपने से किताब बनती है। उधर चतुरसेनजी भी वही थे जिनसे मुझे कलम पकड़ना आया था। दोनों क्या मिल जुलकर एक ही रात यों चल देने वाले थे!

प्रेमीजी की याद ने मुझे बुरी तरह मथ दिया। जैसे सिर से अभिभावक उठ गया। ऐसा मालूम हुआ कि जीवन में मेरे लिये मानो प्रामाणिकता का आधार ही उठ गया है। प्रामाणिकता उनके अणु-अणु में थी। याद कर सकता हूँ कि मुझे उनके रायल्टी के हिसाब के कागज़ पर निगाह डालना पाप-सा लगता था। मैंने आज तक उस हिसाब पर आँख नहीं की है और कभी यह नहीं हुआ है कि दीवाली से पहले हिसाब और पैसा पहुँच न गया हो। मैं एकदम

नया और कोरा था। लेखक के रूप में सिखतड़ तक न था। नए लेखक की रचना छापना ही तब बड़ी कृपा समझी जा सकती थी। लेकिन प्रेमीजी ने टर्म्स पूछी और पूछ-ताछकर मैंने जो लिखी वह पूरी रकम उन्होंने मुझे अगाऊ भेज दी। मेरी माँ जानती थी कि मैं ज़िन्दगीभर निकम्मा ही बना रहनेवाला हूँ। उस माँ की निगाह में पहली बार इस निकम्मे आदमी की कमाई का पैसा आया तो याद कर सकता हूँ कि इससे उन आँखों में चमक आ गई थी। थोड़ी उन्हें तब सान्त्वना हुई थी। मेरे आगे तो जैसे तिलस्मही खुल गया था। तब जगत्‌भर के प्रति मेरे मन में संशय और डर रहता था। प्रेमीजी के इस व्यवहार से मैंने आविष्कार किया कि दुनिया प्रेम से शून्य नहीं है। तब से मैं मान सका हूँ, और यह विश्वास मुझ में दृढ़ से दृढ़तर होता गया है, कि संसार यह प्रेम पर टिका है। प्रेमी जी ने अनजाने मेरा यह परम उपकार किया है कि मुझ में आस्तिक्य का वपन और सिंचन किया है। रायल्टी का हिसाब तो मैं सदा भूला रहा, पर इस गहरे उपकार पर से तो मेरी याद कभी क्षण को हट पाती नहीं है।

मैं मृत्यु का कायल हूँ। जीवन से अधिक उसका कायल हूँ। वह परमेश्वर का वरदान है। मैं मृत्यु को समाप्त नहीं चाहता हूँ। उसके बिना जीवन असह्य हो जायगा। क्षण मरता जाता है कि समय जिये। व्यक्ति को मरते रहना चाहिये कि विराट जी सके। आदमी मरे नहीं तो निरन्तरता किस तरह अजस्त्र रह सकती है। इसलिये जीवन में मृत्यु का विचार मुझे परम कल्याणमय जान पड़ता है। इसमें से भय प्राप्त हो सकता है, वैराग्य प्राप्त हो सकता है। निराशा और उदासीनता प्राप्त हो सकती है। उस उपलब्धि को भी मैं मूल्यवान मानूँगा। गृहीत्‌इवकेशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्। मौत सिर पर है, यह यदि हम याद रखें तो धर्म आचरण सहज होता है। अन्त में वही धर्म साथ भी जाता है। यों तो ज़िन्दगी में आदमी खूब करना-धरना लगाये ही रहता है। पर जाते वक्त उसका यह किया धरा सब यहीं रह जाता है। राव तब उसी तरह अपने को

रीता और बीता पाता है जैसे रंक। वहाँ आकर सब समान हो जाते हैं। अन्तर यदि रहता है तो धन और मान की कमाई के कारण नहीं, धर्म की कमाई के कारण रहता है। धर्म की कमाई यानी उसके स्नेह की याद। वह छूटी हुई याद फिर जीवन का निर्माण करती है। इसलिये कुछ लोग हैं जो मर कर ही अमर बनते हैं। वह मृत्यु को जीतते हैं। जीतते इसलिये हैं कि अपने जीवन-काल में वे उसको स्वेच्छा से वरण करते और धन्यभाव से उस मृत्यु को सदा अपने अन्तरंग में धारण किये चलते हैं। वे ही द्विज होते हैं। वे आकांक्षा और स्वार्थ से जी नहीं पाते। एक स्नेह की ही पूँजी उनके पास होती है जो उनके मृत्युवरण के कारण पुष्ट ही होती जाती है, अहम् के उदय के लिये उनमें कोई अवकाश नहीं छोड़ती।

फरवरी, १९६०.

अन्धड़ में स्मशान

राजनीतिक अपनी सत्ता और अपने कर्म के बारे में अपने भीतर गहरे में पड़ी इस स्मशान की भूमिका पर से अगर सोचे ? सोचे कि यहाँ का करा धरा चौपट यहीं सब रह जायगा, मान-सम्मान सब चट जायगा; लोग आएँगे और उसमें आग दिखा जाएँगे। वहाँ से सोचे तो क्या देश के, उसके, हम सबके लिए यह परम शुभ न हो।

फल क्या ऐसे भी होते हैं जिनमें बीज या गुठली ही न हो ! कवि सियारामशरण ऐसे ही हैं। यह नहीं कि ढीले-पोच हैं। उनकी सी दृढ़ आस्था अपने परिचय के साहित्यिकों में तो मैंने नहीं पाई। पर शरीर उनका अस्वस्थ ही रहता है। उसके नीचे अहंता सर्वथा घुल रहती हो और चित्त सदा के लिये आर्द्र हो आता हो, यह हो सकता है। वही साथ घर आये तो मैं और सब भूल गया, उनका ही हो रहा।

तभी फोन आया, 'मैं यहाँ आकर बैठा हूँ, दफ्तर में। हजूर कहाँ हैं ?'

'ओः, माफ करना, घर पर हूँ। यहीं न आ जाओ।'

'साथ के जैन तो राह देखकर चले जा रहे हैं। जाना मुझे भी था। पर···तो घर आऊँ ?'

'हाँ, फौरन। नहीं तो चाय ठंडी होगी।'

यह बन्धु रचनात्मक कार्यकर्त्ता थे। मिनिस्टर हुए, अब फिर शुद्ध रचना में हैं। आये और चाय में और बातों में सम्मिलित हो गये।

दरवाजे पर फिर ठकठक हुई। जो महाशय पधारे, अत्यन्त भद्र थे, यद्यपि अपरिचित थे। संकोच तो उन्हें हुआ पर फिर बात में

वह भी शामिल हो गये ।

थोड़ी देर में फोन खनखनाया, 'सुनिये, डॉक्टर साहब का देहान्त हो गया है । शरीर घर ले आये हैं । आप आ रहे हैं ?'

मैंने कहा 'एक घन्टा तो अभी लग जायगा । कब उठा रहे हैं । वहीं न मिल जाऊँ ?···कब वहाँ पहुँचेंगे ?···साढ़े पाँच ? अच्छा ।'

उन डाक्टर के उठ जाने पर मन बिगड़ आया था । यह नहीं कि जाना असमय कहा जाय । अवस्था नव्वे के आसपास थी । फिर भी बेतुका लगता है यह कि कल अमुक हम सबके बीच थे, आज एकदम हैं ही नहीं । इतना अजब लगता है यह व्यापार कि होना और जीना भीतर से निरा निस्सार ही हो । पर मन को अन्दर रोका, पता न लगने दिया कि क्या है, और बातों के प्रवाह में शामिल हो गया ।

अपरिचित बन्धु जिज्ञासा लेकर आये थे कि बताया जाता है कि धर्म सब एक हैं, लेकिन तत्ववाद सबके अलग हैं । ऐसे वे अनेक ही हैं । या तो तब यह ठीक है कि सबको एक साथ छोड़ दिया जाय और धर्म-मात्र को तिलांजली दे दी जाय । लेकिन अगर धर्म व्यर्थ नहीं है तो सम्प्रदाय को क्यों दोष दिया जाता है ? क्योंकि आखिर किसी धर्म को भी मानें, होगा तो वह एक सम्प्रदाय का ही ।

मैंने नेता बन्धु की ओर देखा । उन्होंने तत्काल स्निग्ध कृपा-भाव से समझाना शुरू किया । सज्जन सच ही जिज्ञासु थे, आग्रही नहीं थे । इसीसे उन्हें तोड़ना या मन्द करना आसान न हुआ । उनके अपने तर्क थे । सच यह कि वह अपने धर्म में चुस्त और तत्पर थे । ऐसा पुरुषोत्तम परास्त क्यों हो ?

सियाराम अकुला रहे थे । उन्हें चिन्ता थी कि दद्दा (मैथिली शरण) वहाँ चिंतित होंगे । इसलिये वह तो बीच में ही विदा ले गये । तब मैंने पूछा, 'आप जैन हैं ?'

'जी'

'दिगम्बर ?'

'जी'

याद आया कि मैंने भी दिगम्बर परम्परा में जन्म पाया है। पूछा, 'जैन धर्म सच्चा है, कि दिगम्बर जैन धर्म ?'

'दिगम्बर जैन धर्म'

'तो बाकी जैन धर्म झूठा है न ?'

'हाँ ··· नहीं नहीं ···'

'दिगम्रर में भी आम्नाय हैं। हैं न ? पण्डित अनेक हैं, और उनमें मतभेद है। है कि नहीं ?'

'जी,'

'दिगम्बर जैन धर्म की आपके मन में जो धारणा है, हो सकता है न कि मेरी उससे भिन्न हो। आप शायद न जानते होंगे कि मैं भी दिगम्बर जैन हूँ।'

'जी, धारणाएँ भिन्न हो सकती हैं।'

'तो फिर क्या धर्म सबके अपने-अपने पास नहीं पहुँच जाते ? ऐसे धर्म अंत में आत्मधर्म हो आता है। क्यों, नहीं ? असल सब धर्म आत्मधर्म हैं। इस तरह सब एक हैं। अनेक हैं तो इतने नहीं जितने संप्रदाय हैं, पर इतने कि जितने व्यक्ति हैं। उतनी असंख्य अनेकता को जो हर्ष से स्वीकार करता है, वही धर्म एक है। उसकी एकता खण्डित हो नहीं सकती। क्योंकि अनेकता से उसे भय नहीं है, बल्कि प्रीति है।'

पर मैंने देखा कि अन्त में ये शब्द ही थे। शब्द में ऐक्य कहाँ रखा है। वह तो मन में होता है। जिज्ञासु बन्धु आश्वस्त होकर गये, ऐसा नहीं कहा जा सकता। उनके जाने पर नेता बन्धु ने कहा, 'यह तो हुआ, अब कुछ अपनी बात भी हो जाय। सुना है इधर तुम देश की स्थिति के बारे में सोच रहे हो । गम्भीरता से सोच रहे हो।'

मैंने घड़ी देखी और कहा—, 'नहीं, आपने सही नहीं सुना।'

उन्होंने आपत्ति की, कहा 'लेकिन ···'

मैंने कहा,—'स्थिति देश से पहले मुझे घर की छूती है। वह

इसलिये कि चित्त की स्थिति को छू आती है। मैं कुछ और नहीं जानता, मन:स्थिति को जानता हूँ। वह मेरी आनन्द की नहीं है, मुक्तभाव की नहीं है। मैं मानना हूँ कि भारत में औसत आदमी का यही हाल है। मानसिक स्थिति उसकी विषम है। योजनाओं की रिपोर्टें क्या कहती हैं, मुझे नहीं मालूम। अखबारों में रोज़ पढ़ता हूँ, तरक्की धड़ाधड़ हो रही है। वह हो भी रही होगी, पर मनको अपने टटोलता हूँ, दूसरे के मानस को छू पाता हूँ तो वहाँ की धड़कन से आश्वासन नहीं होता। मैं, मेरा परिवार, मेरा घर क्यों देश नहीं है? ये सब लोग क्या देश के नहीं हैं? देश इन सबसे भिन्न कुछ होता हो तो उसे राजनीतिक जानें। मेरा वैसी निरी धारणात्मक संज्ञाओं से वास्ता नहीं है। जो देश लोगों के सुख-दु:ख की धड़कन में बसा हुआ है, उसकी स्थिति को सचमुच मैं अच्छी अनुभव नहीं करता हूँ···लेकिन आइये, उठिये, चलें।'

'कहाँ?···कहाँ चलें? मैं एक सलाह लेना चाहता हूँ। राजनीति से तो अलग ही हूँ, तुम जानते हो। जिस विचारधारा के निकट हूँ, वह गांधी, विनोबा की है। लेकिन···सर्वोदय से तुम्हें सांत्वना है?

'अब उठो, चलो।'

'तो दो मिनट बैंठो। बताओ, सांत्वना है?'

'बात असल कहो जी। राजनीति तुहें क्यों खींचती है? नहीं, उसकी कशिश ग़लत नहीं है। ग़लत शायद उपेक्षा विमुखता है।··· चुनाव में खड़े हो, या न हो, यही उलझन है ना?'

'मैं तो नहीं चाहता। लेकिन···।'

'कितने भी स्वतंत्र होओ दलों से। चुनाव तक यह चल भी सकता है। चुनाव के बाद दल में आना ही होगा। अभी तो कह रहे थे, पार्लियामेंटरी डिमोक्रेसी परिस्थिति की मांग से ओछी पड़ रही है।···लेकिन बस उठो, चलो।

'सुनो तो——।'

'बस वक्त नहीं है।'

'फिर भी कहाँ ले चलोगे ?'

'ऐसी जगह जहाँ से हमारी बातों में, काम में, वास्तविकता आ सकती है।'

...हम आये तब चिता लपटें लेकर जल रही थी। डा० सुखदेव जो थे जा चुके थे। अब उनका शरीर लपटों में भस्म किया जा रहा था।

ऊपर घने बादल थे। तह-पर-तह वे गहराते ही जा रहे थे। आँधी का आसार था। गर्मी एकाएक सर्दी हो आई थी। हम ही वहाँ लोग थे जो अर्थी के साथ आये थे। चेहरे गिरे थे, और मन मुरझाया था। शेष मरघट में सन्नाटा था। दो एक चिताएँ और भी दहकी दीखती थीं। पर लपटों में चिंगारी फेंकती हुई हमारी ही चिता जल रही थी।

मैंने मित्र को बांह से पकड़कर अपने पास खींचा। हम दोनों चिता की ओर देख रहे थे। रह रहकर आँख हठात् ऊपर की ओर भी उठ जाती थी। पक्षी चिचियाते हुए एकाएक जोर से उड़ निकले। हवा सरसराती आई। देखते-देखते आँधी सिर पर आ टूटी।

उस अन्धड़ के वेग का पार न था। अगले दिन अखबार ने बताया वेग सौ मील था। आकाश फूत्कार कर उठा। सब डिगने और हिलने लगा। पल में अँधेरा आ छाया। उसमें चिता दहकती सुर्ख अङ्गार बन चमकी। आँधी में उसकी ज्वालाएँ ऐसी उठीं कि लपलपाती लहू की जीभें हों। जैसे सब आकाश को चाट जायेंगी। शोले उड़-उड़कर धूमकेतु से दूर तक जाने लगे। हम बचाव करते छत के तले भागे। पर बचाव वहाँ था कहाँ। अँधेरा शून्य था और हम थे और चारों ओर विकट हुँकार की गर्जना थी और अग्नि छोड़ती अग्निजिह्व शिखाएँ थीं।

वह संध्या भूलने की नहीं है। दो तीन घण्टे हम स्मशान में ही कैद रहे। उस काल वह स्मशान हमारे भीतर गहरा उतरता चला गया। आखिर देर सबेर सबको वहीं तो पहुँचना है। लगा कि

ठौर एक सही वही है, वही है।

धर्म अनेक हैं। दल अनेक हैं। हम अनेक हैं। पर अन्त में इस स्मशान में आकर एक न एक दिन क्या हम सबको एक नहीं होना है ?

मैंने तब सोचा और अब सोचता हूँ। सोचता हूँ कि राजनीतिक अपनी सत्ता और अपने कर्म के बारे में अपने भीतर गहरे में पड़ी इस स्मशान की भूमिका पर से अगर सोचें ? सोचें कि यहाँ का करा-धरा चौपट यहीं सब रह जायेगा। मान-सम्मान सब चट जायेगा। लोग आयेंगे और उसमें आग दिखा जायेंगे। वहाँ से सोचें तो क्या देश के, उनके, हम सबके लिए यह परम शुभ न हो !

मार्च, १९६०.

आयु और समय

इन्जील ने कहा, क्रॉस। गीता ने कहा, यज्ञ। कुरान ने कहा कुरबानी।
तो क्या यही जीवन का अर्थ है? सार है? लक्ष्य है?

घर में एक खूबसूरत गुलदस्ता रखा है। दो साल हुए कोई बच्चा चार या छः आने में खरीदकर लाया था। फूलों के रंग किसी कदर फीके तो हो गये हैं, फिर भी वह बदस्तूर है। दो-चार साल अब भी इसी तरह चलने का इरादा रखता मालूम होता है।

उस दिन स्वामीजी आये। लोगों ने बड़े आदर से भारी-सा गजरा उनके गले में डाला। घर पधारे तो उतारकर वह उन्होंने बच्चे को दे दिया। उसकी महक का क्या कहना। घरभर सुरभि से भर गया। लेकिन अगले रोज़ देखें तो यहाँ-वहाँ कूड़ा करकट फैला है। गजरा मुरझाकर कूड़ा बन गया है और उसे बाहर फेंक देना पड़ता है!

पहली चीज़ नकली है। दूसरी चीज़ असली थी।

अजब मालूम होता है यह कि जो सिर्फ कागज़ी है, बनाया गया है, वह गुलदस्ता तो कायम है। जो असल फूलों का था, इस कदर तरोताज़ा और खुशबूदार था, ज़रा में कुम्हला गया और कूड़ा बन गया। पर नकल और असल में यही फर्क है। असल में जान होती है, जो चंचल है और समान नहीं है। नकल में जान कहाँ कि अन्तर पड़े। जैसी धर दो वैसी बनी रह जाती है।

तो जान की यह पहचान है। ज्यों-का-त्यों-पन वहाँ नहीं दीखेगा। लहरें होंगी और रूप अदले-बदलेगा। पत्थर वैसा का वैसा रहता है। जीव ज़रा भी होगा तो हलन-चलन करेगा। निर्जीव बस है, सजीव होता रहता है। यह होते-रहना यों कोई

सुखकारी दशा नहीं है। उससे आयु घटती है। जो केवल मात्र है, होते-रहने से मुक्त है, उसकी आयु का आदि-अंत नहीं। उसका जन्म नहीं, जरा नहीं, मृत्यु नहीं। आयु अर्थात् समय का मान, परिवर्त्तन और परिणमन की योग्यता। आदमी आयु रखता है, आशय बच्चा होता है, जवान होता है, बूढ़ा होता है, खत्म होता है। यह सब जिसमें नहीं हो सकता, वह जीता ही नहीं। जीना वह जिसमें कुछ आय होती है, कुछ व्यय होता है। जो अपने से बाहर की ओर बढ़ता है और भीतर की ओर उतरता है।

जीवन का यह चित्र बहुत सुन्दर नहीं है। हँसते से उठते हैं और जवानी पार करते-करते चिंता में घिर आते हैं। फिर एक दिन रोते हुए मर जाते हैं। इसके मुकाबले क्या यह ईंट-पत्थर का मकान बड़े मजे में न कहा जायगा कि खड़ा है तो पीढ़ियों से खड़ा ही है। न इसे आने-जाने की ज़रूरत है, न करने-धरने की। अपनी चिंता नहीं है, किसी की चिंता नहीं है। बस है तो है।

कई बार लगता है कि होना, जिसमें करना समाया है, एक बला है। होना ऐसा हो कि जैसी ममी होती है, तो मजा है। सदियाँ और सहस्त्राब्दियाँ होती रहती हैं और आप, सर्वथा स्वरूपस्थ, अपनी एक ही मुद्रा में सोये रहते हैं। स्विट्ज़रलैंड में एक शख्स की ममी देखी थी। तीन हजार साल से ज़्यादा पुरानी थी। यह हज़रत जीये होंगे तो यही कोई साठ-सत्तर बरस। ममी की शकल से लगता था कि इतने बरस भी नहीं। चालीस-पचास के बीच कहीं यह महाशय मर लिये होंगे। उसके बाद ममी के रूप में हज़ारों हज़ार बरस ऊपर से गुज़रे चले जा रहे हैं और उनकी नींद में विघ्न नहीं डाल पाते हैं। यह मरे हुए रहना अच्छा है कि वक्त जिसका कुछ बिगाड़ नहीं सकता, या जीना अच्छा है कि जिस पर ज़रा वक्त झुर्रियाँ और फिक्रें डाल जाता है और फिर दाव देख चुटकियों में खत्म कर डालता है!

क्या तत्त्व है यह कि जिसे जीवन कहते हैं। क्यों पतंगा हो पड़ता है और लौ के आसपास ज़रा देर मंडराकर गिरता और मर

जाता है ! नये-नये, चित्र विचित्र, नाना वर्ण के पंख पाकर क्यों तितली हो उठती है कि तनिक-भर के लिये धूप की ओर उड़े, फूल को चूमे और इतने में पंख तोड़कर मर जाय ! घण्टे दो घण्टे के जीवन की यह विवशता क्या है ? क्यों है ?

सोचने बैठता हूँ तो जान पड़ता है कि लौ की यह लगन, धूप का वह दर्शन, फूल का वह प्यार शायद छोटी चीज़ नहीं है। छनभर सिर्फ उतने के लिये हो-आना और फिर सदा के लिये न-हो-जाना शायद ग़लत चीज़ नहीं है। जीना इसके सिवा क्या है कि हम होते हैं, जगते हैं और विस्मय में अपने से शेष के प्रति बाँहें खोल आते हैं !

निश्चेतनता स्थिर अस्तित्व का नाम है। चैतन्य अस्तित्व को अस्थिर कर देता है। उसमें, उसके होने में, तनाव भर देता है, स्पृहा जगा देता है, 'मैं' पैदा कर देता है। मैं का त्रास उपजाता है, फिर उस मैं को जलाकर खत्म कर डालने की प्यास पैदा करता है। यही जीवन का चक्र है। हम होते हैं और फिर बड़े चाव से इस होने को होम करते और समाप्त हो जाते हैं !

इन्जील ने कहा, क्रास। गीता ने कहा, यज्ञ। कुरान ने कहा, कुरबानी। तो क्या यही जीवन का अर्थ है ? सार है, लक्ष है ?

मन भटक गया है। बड़ा वैसा मालूम होता है। जीने के इस सार का सामना नहीं करना चाहता। जीना चाहता है और ऐसा लगता है कि सार बिना भी जीना चाहता है !

ओह, कैसी विडम्बना है कि जीने के रस का इन्कार करते हैं और जीना फिर भी चाहते हैं ! तुच्छ, मन्द, चिंतित रह लेंगे। धूप में नहीं खिलेंगे, कि कहीं झुलस न जायें। रोशनी पर नहीं रीझेंगे। प्यार से बचेंगे !

हाय रे, अभागे मनुष्य ! पतंगा होता है और उड़ता है। तितली होती है और धूप में पंख खोलकर तिर आती है। होने के आनन्द में नाचते हुए सभी मृत्यु से भेटने उठते चले आ रहे हैं। तू फिर किस द्विधा में पड़ा है। क्या यह तमाम तैंने अपने चारों तरफ रच लिया

है, जिसको उपयोगी कहता है और जो तुझे रोकता है। अरे अभागे, घड़ी दो घड़ी का जीवन है। संक्षिप्त है इसीसे तो है। और देख, सूरज ऊपर है और चाँद और सितारे और आसमान। देख, कैसे रंग वहाँ छिटके आ रहे हैं। कैसी इन्द्रधनु की कमान कभी तन आती है और आसपास कैसे रंग-बिरंगे फूल हैं। बोलते हुए फूल, चहकते हुए फूल। अरे, कहाँ है कि तू डस गया है। क्यों है कि तू उठता नहीं है। कहीं ऐसा तो नहीं कि नियम तेरे हों जो तेरी जकड़ बने हैं। मन में से तेरी ही दुविधा ने निकलकर तो तुझे पाश में नहीं ले लिया है। दिन तेरे पास गिनती के ही हैं, गिनती पर पहुँचकर तुझे समाप्त हो जाना है। अरे, बैठा-बैठा, पड़ा-पड़ा क्या मरता है। आगे बढ़कर ले उसको कि जो मृत्यु है और तुझे पता चल जायेगा कि जीवन का स्वाद क्या होता है।

होना सत् है। उससे आगे जो चित् है सो जान-बूझकर होना है; होने का प्रतिक्षण कष्ट अनुभव करते हुए होना है। अपने को अपने में पाना और इस तरह सबसे वियुक्त पाना है। यह विरह का बोध चित् का मूल बोध है। यह अनादि दुःख जीवन की अनन्त निधि है। इसी में से नाना प्रेरणाएँ मनुष्य को प्राप्त होती हैं। यह करता है, वह करता है, और बराबर बेचैन रहता है। कभी अपनेपन को फुलाता है, कभी लुटाता है। यह लूट उसका आनन्द है। सच्चिदानन्द। लेकिन आनन्द हममें खुलता नहीं है, क्योंकि चित के दुःख को पूरी तरह हम अपनाते नहीं हैं। 'मैं' का होना दुःख रूप है। इससे गति हमारी अनिवार्य न-होने की ओर है। मैं हूँ, लेकिन क्यों हूँ कि शेष से अलग हूँ? अतः सब शेष को लूँगा और सबमें एक हो जाऊँगा। मैं मैं नहीं रहनेवाला हूँ, सब हो जानेवाला हूँ। प्यार की यह चहुँमुखी माँग कहती है, यह त्रास है ले, यज्ञ है उठ, कुरबानी है बढ़। आ और सदा के लिये आनन्द हो जा। पर हाय, आदमी आता नहीं है, उठता नहीं है, अपने होने में रुक जाता है। रुक जाता है और दुख पाता है। अपनेपन का दुख लेकर सबमें बिखरा दे तो वही परिपूर्ण हो जाए। अपनेपन की व्यथा इसी से

तो मिली है कि वह उसके मारे रह न पाये और निछावर हो आये। पर दुख पाता है और नहीं देखता कि सब ओर आमन्त्रण है, सब ओर प्रतीक्षा है।

कुछ ज्योतिर्धर पुरुष हो गए हैं। उन्होंने आमन्त्रण सुना, फिर रुकना नहीं हो सका। उन्होंने अपने को पूरी तरह दे डाला। रंच भी अपने में नहीं रोका। अकुंठित सबके प्रति विसर्जित करते चले गए। जीवन उनका आनन्द से ज्योतिष्क बन रहा। मानो यहाँ के हों ही नहीं, आलोक के लोक से अवतार लेकर आये हों। जीवन उनका जगमग-जगमग कर आया। अन्तर्ज्वाला को उन्होंने अपने सर्वाङ्ग में अपना जो लिया सो सब उज्ज्वल और जाज्वल्य हो गया। उनका चरित्र जैसे पदार्थ पाठ हो उठा। जीना उनका अपना न था, काल को प्रकाशित करने के लिये था और अपने सार को जैसे सिद्ध और सचित्र कर जाने के लिये।

दिया जलता है, फिर बुझ जाता है। बुझने पर जो अँधेरा होता है उसी से दीपक के मूल्य का पता चलता है। आयु समाप्त होती है और अत्यन्त उचित है कि वह समाप्त होती है। जिनके लिये समाप्ति नहीं, उनके लिये समय ही नहीं है। उनका होना न होना एक-सा है। उन्हीं को तो हम जड़ कहते हैं। घर का गुलदस्ता है, घर की दीवारें हैं। उन्हें पता रखने से क्या मतलब कि रात बीत गई है, सबेरा उठा आ रहा है। वह देखो सूरज मुँह दिखा आया है, धूप की किरनें जाते अन्धेरे को चूमने आ पहुँची हैं। नहीं पता है इससे ज्यों के त्यों हैं। जिसे पता है वह सबेरे पर चहचहा उठता है, दुपहरी को झुलस आ सकता है, शाम को थककर निढाल हो जा सकता है। वह समय की हर धड़कन के साथ जीता और बीतता है। आज बालक है, कल किशोर होगा, परसों जवान होगा। ऐसे ही समय के प्रति उत्तर देता अन्त की ओर बढ़ता जायगा। जो इस तरह समय का हर पल लेता और अपने को उसके प्रति परिपूर्णता से जीकर रिताता रहता है वह मुक्त और पूर्ण होता है। इस शरीर में भी जाने क्या-क्या रखकर हमें सिरजा गया है।

शरीर को इन्द्रियाँ दी गई हैं कि जिनके द्वारा भीतर को वह बाहर दे सकता और बाहर को भीतर ले सकता है। जीवन जैसे आरम्भ है उस स्रोत का जिसमें से आदान-प्रदान स्वतः बह निकले। जीवन आरम्भ है सम्बन्ध का जो भिन्न को मिलाए और अभिन्न हो जाए। 'पाया हो तो दे ले प्यारे, पाय-पाय फिर खोना क्या रे।' समय इसीलिये मिला है और इसीलिये बँधा है। देना रुका या चुका कि समय पूरा हुआ। इस बँधे समय को आयु कहते हैं।

आयुष्य सार्थक है उसकी कि जिसका जब अन्त आया तो उसे बेबाक पाया। मन में शेष कुछ न रह गया। मृत्यु आई तो मानो पूर्णता ही आई। मानो परमेश्वर की कृपा ही आई। जो स्वेच्छा से मरण का वरण करता है वह आयु पारकर काल को जीतता हुआ अकाल पुरुष बनता है। 'ज्यों की त्यों धरि दीनी चदरिया।' उस सबसे पूरी तरह रिताकर कि जिसे भीतर रखकर उसे भेजा गया था वह इस मृण्मय पात्र को यहीं की मिट्टी पर ज्यों का त्यों छोड़कर अपने निर्माता के पास चला जाता है। धन्य मानता है कि आयु बीती और समाप्त हुई। कृतज्ञ होता है उस क्षण के प्रति कि जब वह खाली हो पाता है और उठा लिया जाता है। ऋण नाना हैं, आयुभर ऋण ही तो चुकाते रहना होता है। समूचा का समूचा स्वयं वह ऋण ही तो है। इसलिये अपने को बूँद-बूँद कन-कन देता गया है तो उसे उऋणता का बोध भी प्राप्त होता है। ऐसा प्राणी फिर-फिर होने और होते रहने से छुटकारा पा जाता है।

फरवरी, १९६०.

प्याले में तूफान

खण्ड 4

प्याले में तूफान

अद्‌भुत के प्रति उत्सुकता सदा रही है और रहेगी । अद्‌भुत का नयापन ज्यादा टिकाऊ है । तीन टाँग का आदमी आज यदि पैदा हो, तो क्या वह जल्दी पुराना पड़ जायगा !...

तूफान चाय के प्याले में भी आ सकता है । कलकत्ता इस बार गया तो ऐसा ही मालूम हुआ । साहित्य का एक तो शौक होता है । दूसरा उसका स्वार्थ भी हो सकता है । इन दोनों में अन्तर है ।

जाते ही फोन पर एक मित्र से बात हुई । बोले---कब आये ? ···अच्छा सुनिये, कल यहाँ एक साहित्यिक गोष्ठी है । निमन्त्रण पहुँचेगा । आयेंगे न आप ? यह क्या ! गला भारी है !'

हाँ, मैंने कहा । सख्त नज़ला है । हरारत भी मालूम होती है । देखिये, आ सका तो ।

अगले दिन तबीयत कुछ साफ हो आई थी और लेने मित्र भी आ पहुँचे । गोष्ठी में पहुँचकर आश्चर्य हुआ । दूर-दूर से आये जाने-माने विद्वान उपस्थित थे और विषय था नई कविता । नई कविता वहाँ कही जाने, पढ़ी जाने, गाई जाने को तो न थी, विचारी और विवेची जाने को अवश्य थी । आश्चर्य सुखद हुआ । क्योंकि कलकत्ता सुना था व्यवसाय की नगरी है । नई कविता मनोरन्जन की चीज हो सकती है । पर नई कविता का प्रश्न न व्यवसाय का है, न मनोरंजन का । कवि-उत्सवों का मेल तो व्यवसायवादिता से बैठ जाता है, जैसे क्लब का और रेस का मेल अर्थवादिता से बखूबी बैठता है । लेकिन विचार-विवेचन की गोष्ठी में भी कलकत्ता के कुछ नागरिक थे, देखकर अच्छा मालूम हुआ ।

गोष्ठी ने भरपूर दो दिन लिये। वक्ताओं का वक्तव्य इन दो दिन की लगातार बैठकों में तनिक भी समाप्त हुआ, ऐसा नहीं जान पड़ा। न नई कविता का आशय और भविष्य मुझे जैसे के निकट स्पष्ट हो पाया।

नई कविता से पहले कविता और व्यवसाय, और कवि और व्यवसायी, इनके सम्बन्ध का प्रश्न मेरे मनमें उठता है। ऐसी गोष्ठियों में खर्च तो होता ही है, वह द्रव्य क्यों और कैसे प्राप्त होता है, उसके मूल में प्रेरणा सांस्कृतिक है या क्या, यह मेरे लिये साफ नहीं है। मैंने जाना नहीं कि ठीक कितने, लेकिन कुछ हजार रुपये तो इसमें लग ही गये होगें। शिकायत है कि कविता पुस्तक छपती नहीं है, छप जाय तो बिकती नहीं है। यदि इन कुछ हजार रुपयों से नई कविता, या अच्छी कविता, की पुस्तकें खरीदी जायँ और पढ़ी जायँ तो इससे संस्कृति का अधिक लाभ हो या कम, यह भी प्रश्न के रूप में मन में उठता है। व्यवसायी और कवि आज इनके दो अलग द्वीप हैं। मेल मनोरन्जन के पुल से हुआ करता है, यों उन द्वीपों के बीच खाई रहती है। मुझे लगा कि नागरिकता का लाभ इसमें है कि वह दो बीच में गहरी खाई डालकर अलग द्वीप बनकर न रहें और आपसी परिचय के लिये यदाकदा काम आनेवाला मनोरन्जन का पुल ही साधन न रहे बल्कि व्यवसाय और काव्य में परस्पर अधिक घनिष्ठ और खुले सम्बन्ध हों। व्यवसाय में कुछ कल्पना का रस और रंग हो सके और काव्य को व्यवसाय का यथार्थ कुछ पुष्टि दे सके। सम्बन्ध कुछ गहरा हो, समग्र हो, जिससे नागरिकता अधिक परिपूर्ण बने।

लेकिन यह अवान्तर है। प्रश्न वास्तव में नई कविता का है और वही विद्वद्जन-विचारणीय है। सामान्य से विद्वान जन का भिन्न होना आवश्यक है, इसलिये विद्वान का प्रश्न सामान्य जन को अनावश्यक लगे तो विस्मय की बात नहीं है; बल्कि उल्टे विद्वान् के लिये यह गौरव की बात हो सकती है।

संज्ञा के साथ नया विशेषण आमतौर पर कालबोधक होता

है। नई कविता यानी नये क्षण की कविता। यों यहां ज्यादा विज्ञान आवश्यक नहीं है, लेकिन बात की पकड़ के लिये वैज्ञानिक दृष्टि मदद देती है। वह दृष्टि यह कि क्षण काल का वह विन्दु है जिसमें किसी प्रकार का परिमाण नहीं है। ज्यामिति के बिन्दु में लम्बाई चौड़ाई सर्वथा नहीं हो सकती। इतनी नहीं कि वह बिन्दु कल्पना के सिवा अन्यत्र हो नहीं सकता। कागज़ पर होते ही वह अ-बिन्दु हो जाता है। यही हाल क्षण का है। उसमें सूक्ष्म-से-सूक्ष्म 'ड्युरेशन' नहीं टिक सकता। यानि, क्षण होता नहीं कि बीत जाता है। इस तरह अन्त में नया वह रह जाता है जो नया-सा लगता है।

नये का अधिकांश यही आशय है। अब इस आशय के पास के शब्द और भी हैं। जैसे अद्भुत, विचित्र, अनोखा, निराला आदि। इन शब्दों में नये से कुछ अधिक ध्वनि है। नये में यदि यह दावा हो कि वह अधिक आधुनिक, अधिक अग्रगामी, अधिक उन्नत, अधिक प्रगत (प्रगति प्राप्त) है तो अद्भुत आदि विशेषणों में इस दावे की गूँज नहीं है। सच पूछिये तो अद्भुत क्षण-नवीन नहीं सदा-नवीन होता है। तीन टाँग का आदमी आज यदि पैदा हो तो क्या वह जल्दी पुराना पड़ जायगा? अद्भुत का नयापन ज्यादा टिकाऊ होता है।

अद्भुत के प्रति आकर्षण रहा है और रहेगा। परन्तु इस आकर्षण में घनिष्ठता की जगह एक दूरी होती है। आत्मीयता वहां सम्भव नहीं बनती, एक कुतूहल का भाव बीच में अन्तराय बना रहता है। इसलिए वही नवीनता परम्परा में समाकर सनातन महत्त्व की बनती है जो अतीत की कड़ी से विच्छिन्न नहीं होती बल्कि संगत होती है।

नवीनता का प्रेम नवीन नहीं है, एकदम पुरातन है। ऐसे लोग फैशनेबिल कहलाते हैं। फैशनेबल लोग हर काल हर देश में रहेंगे, वे निगाह के लिये सदा दिलचस्पी का कारण भी रहेंगे। लेकिन कभी इस फैशनेबिल वर्ग का महत्व नहीं हुआ है। काल गति में समाकर ये जन खो जाते रहे हैं। दीर्घजीवी वह नहीं होता जो

क्षण पर जीता है। इस तरह, वह नई कविता जो पुरानी से सर्वथा टूटी है, सिर्फ़ नई ही है, जीवन-सत्व से कुछ कोरी होनी चाहिए। कोई नयापन अपने बूते जी नहीं सका है। जब उसमें से कुछ अनादि और सनातन प्रकट हुआ है, तभी वह गति का अगला चरण माना गया है।

हर प्रभात नया होता है, हर सृष्टि नई है। इसलिये नहीं कि नयापन उसका क्षण पर निर्भर है। बल्कि इसलिये कि उसमें एक सातत्य की अभिव्यक्ति है।

हर क्षेत्र की फैशनेबिल दुनिया एक चाय के कप के मानिंद है। वह छोटी है और उसमें एक फूंक से लहरें आती हैं, जैसे स्टाक एक्सचेंज मार्केट में लेटस्ट भाव के उतार-चढ़ाव। वहाँ तहलका ही मचा रहता है। जिनकी जान वहाँ है उनकी तो पूछिये क्या! लेकिन आम आदमी से दूर की यह चीज है और धर्मयुग के लिये अनिवार्य नहीं है।

एक चालू शब्द प्रयोगवाद था। अब यह नई कविता आया है। कविता के क्षेत्र में नया प्रयोगवाद था, प्रयोगवाद शब्द अज्ञेय के तार सप्तक से चला। चला एक बार तो चल ही गया। सप्तक के कवियों में कोई एकता न थी, सिवा इसके कि सब वे थे जो कविता में तबतक आत्मप्रतिष्ठ न थे। इस संयोग से और अज्ञेय व्यक्ति के संयोग से यह सप्तक बन आया। फिर तो दूसरा और तीसरा सप्तक भी बनना जरूरी हुआ। चलती का नाम गाड़ी है। पहले के बाद दूसरे संग्रहों में कवि छः, या आठ, या कम अधिक भी हो सकते थे। लेकिन पहला सप्त-संख्यक था न, इसलिये दूसरे या तीसरे में भला संख्या भिन्न कैसे हो सकती थी! ऐसा नियम प्रकृति में नहीं देखा जाता, पर संस्कृति के लिये कब आवश्यक है कि वह अकृत्रिम हो!

अब आप जानते हैं कि दुनिया में शीत युद्ध है। दुनिया में है, यानी हर कहीं है। यह वादों की कृपा है। विशेषकर वादराज साम्यवाद की। निरूपण हुआ कि अद्वैत एकदम नहीं है, मूल है

द्वैत। यही डायलैक्टिक्स; अर्थात् कि द्वैत के इस संघर्ष में से प्रगति निष्पन्न होती है। इसलिए जरूरी हुआ कि दो दल हों। साम्यवादी-जन यह न भी चाहें, पर साम्यवाद के लिये दूसरा कुछ सम्भव नहीं है। अब द्वैत यदि सर्वव्याप्त है तो शीतयुद्ध से भी बचा कोई कैसे रह सकता है। स्पष्ट है कि शक्तियाँ तो दो ही हैं; जो प्रोग्रेसिव नहीं हैं, वह रिएक्शनरी हैं। प्रोग्रेसिव की कसौटी यदि हम अपने पास बनाकर रख लेते हैं तो रिएक्शनरी अपने आप छंट जाते हैं। इस छंटाव में अज्ञेय रिएक्शनरी गर्दाने गये। अब जो सप्तकवाद और प्रयोगवाद चला तो प्रश्न हुआ, प्रगतिवाद क्या करे? प्रगति को आधुनिक तो रहना ही पड़ेगा। इससे आधुनिक के नाम पर कुछ अन्य चल निकले तो प्रगति भला चैन से कैसे रह सकती है! परिणाम हुआ, प्रयोगवाद का अस्वीकार और नये शब्द नई कविता आविष्कार! सच यह है कि वर्गीय अस्वीकार ने प्रयोग को एक वर्गीय वाद का बल दे दिया। नयेपन को प्रगति के दल के लिये जीतना और अज्ञेय को रिएक्शन के नामपर नयेपन से च्युत करना आवश्यक हुआ। यह सब चाय के कप के तूफान की प्रेरणाएँ हैं! सिर्फ़ घटनात्मक हैं, विचारात्मक मेरे विचार से नहीं है, या केवल गुरूजन विचारणीय हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं कि कविता कविता है। इसीलिये नहीं कि वर्णमात्रा का अमुक छन्द है; बल्कि इसलिये कि व्यंजना में भाव की लय है और अनुभूति की काव्यात्मक भूमिका है। वह सनातन और नूतन दोनों है। इसी से काल और देश उससे पराजित रहते हैं। व्यास, कालीदास, दाँते, मिल्टन और गेटे आदि में उसी सूत्र की एकता है। जो क्षणाधीन है, वह कविता कैसे हो सकती है। क्योंकि उससे तो समकालीन लेखक और पाठक तक में एकता नहीं हो पाती!

मई, १९५९.

साहित्य का धर्म

साहित्य एक से एक के हृदय को छूता है और इस तरह एक ऐसे 'चेन रिऐक्शन' को जन्म दे सकता है कि उसका प्रभाव दुर्निवार्य हो आये। पर यह जन-जन के आधार पर ही हो सकता है···

एक लेखक सम्मेलन का विचार सुना जाता है। उसका आरम्भ ३० जुलाई को विनोबा की उपस्थिति में और उनके प्रवचन से होगा। प्रवचन का विषय होगा साहित्य का धर्म।

साहित्य से सबको काम है। कौन है जो पढ़ता नहीं है। पढ़ते नहीं हैं वे सुनते और देखते हैं। कथा-वार्त्ता सुनते हैं और नाटक-सिनेमा देखते हैं। मूल में इन सबके साहित्य है।

पहले लोग अपनी या अपनी बिरादरी की सोचते थे। बड़े क्षेत्र तक या तो मनुष्य महत्वाकांक्षा में जाता था, या मंगलाकांक्षा में। उस समय साहित्य के प्रयोजन के बारे में विवाद की आवश्यकता नहीं होती थी। लोकमानस और लोकचित्त को या तो स्वीकार किया जाता था, या अपने कारनामों से उसे चमत्कृत किया जाता था। उसको अमुक दिशा में गढ़ने और उसमें से अमुक परिणाम निकाल लेने की भाषा में सोचना अनावश्यक होता था। आशय, साहित्य में कोई प्रक्षिप्त प्रयोजन न था। वह एक सृष्टि थी जिसका उत्स आनन्द था और मंगल-कामना। राजकीय या दलीय प्रयोजन अपने अलग रहता था।

यह नहीं कि सम्प्रदाय न थे या वर्ग न थे। असल में पिछले दिनों तत्ववाद संगठित हुए बिना नहीं रहते थे और गुरुओं को लेकर पन्थ बन जाते थे। उनके अपने ग्रन्थ और शास्त्र तैयार होते थे। पर यह सब प्रवृत्ति साहित्य की भूमिका से स्वतन्त्र होती

रहती थी। साहित्य को दिशा देने की कोई बात न थी। अपनी-अपनी सब कहते थे और जन-मानस एक तरह चुनने को मुक्त था। अपनी पसन्द थी और उसके पीछे कोई व्यापक नियोजन न था।

तबसे हालत बढ़ आई है। यानी दुनिया छोटी हुई है और व्यवस्थापक की महत्वाकांक्षा अब वैयक्तिक से आगे निर्वैयक्तिक और व्यापक हो गई है। सोचा जाता है कि यह जो साहित्य की शक्ति है, मानस-निर्माण और चित्त-संस्कार की शक्ति, उसका क्या विनियोग और उपयोग हो।

ऐसे समय साहित्य के धर्म की बात मुझे तो बहुत संगत लगती है। साहित्यिक मिलें और स्वधर्म की भाषा में सोचें, यानी अन्तःकरण से अपने विच्छिन्न न हों। कर्म का प्रश्न धर्म के विचार से हल होगा, क्योंकि कर्म को दिशा धर्म से मिलती है।

उपयोग का शास्त्र धर्मशास्त्र से बहुत विसंगत नहीं होता। सिद्धांत से व्यवहार सिद्ध और पुष्ट होता है। हम तटस्थ, निष्काम और निष्प्रयोजन होकर प्रकृति में गर्भित नियमों का आविष्कार किया करते और उसमें से नये-नये चमत्कारों का निर्माण करते हैं। कामनाएँ और प्रयोजन लेकर चलने से ज्ञान का उद्घाटन नहीं होता। तब हम प्रकृति से अथवा धर्म से समरस नहीं होते, बल्कि उस पर दबाव डालते हैं और परिणाम में विफलता पाते है।

प्रकृति के नियमों के स्वीकार पर हमारी यात्रा सुगम होती है। उनसे फिर हमारे बड़े-बड़े काम निकलते हैं। जैसे यह कि चुम्बक की सूई उत्तर की ओर रहती है। सूई के इस स्वधर्म के बारे में अब हम निश्शंक हैं। यह हम नहीं सोचते कि जिधर हम चाहें उधर वह सूई रहे। सूई आपकी चाह से सर्वथा स्वतन्त्र है और स्वधर्म से च्युत नहीं हो सकती, इसीसे उसके सहारे बड़े-बड़े काम निकलते हैं। दिशादर्शक-यंत्र कितना जरूरी है यह कौन नहीं जानता।

आदमी अपना स्वार्थ साधता चला गया है। वही उसका पुरुषार्थ रहा है। पर उसका स्वार्थ जो सिद्ध और विकसित होता

चला गया है उसका कारण निष्काम ज्ञान था । पशु सीधा सम्बन्ध बनाता है, भोग का या भूख का । तटस्थ सम्बन्ध का उसे परिचय नहीं है । इससे पशु में नितान्त वेग और बल होते हुए भी प्रगति और उन्नति की सामग्री, अर्थात विवेक, नहीं है । विवेक के मूल में यही निस्संगता और तटस्थता है ।

साहित्य सहित का भाव है । यानी वह अलग नहीं है । इसीसे निस्संगता उसका सहज धर्म है । एक के पास होने के लिये हम दूसरे से दूर होते हैं । साहित्य के पास यह सुविधा नहीं है, वह सहित है, हित के साथ है, और सबके साथ है । वह बराबर साथ-साथ है । सबके संग है, इससे किसी एक के ही संग कैसे हो । ऐसे निस्संगता उसका स्व-धर्म हो जाता है ।

साहित्य का खिचाव सत्य की ओर है, ठीक जैसे चुम्बक का ध्रुव की ओर । इससे दूसरा कुछ हो तो अनंत दिग्भ्रम हो जाय । साहित्य और सत्य के बीच दूसरी कोई वफादारी अन्तराय बनकर नहीं आ सकती । देश के लिये, जाति के लिये, मत-धर्म के लिये कोई कुछ भी क्यों न करे, पर साहित्य किसी के लिये भी सत्य से विमुख नहीं हो सकता । यह उसका गुण और स्वभाव यदि पहचान लिया और स्वीकार लिया जाता है तो हमारा उससे बड़ा काम निकल सकता है । तब विश्वसनीय दिशा-दर्शक की सूचिका के तौर पर उस पर निर्भर किया जा सकता है । उसकी अचूक सूई बताती रह सकती है कि मूल्य किधर है और उसकी अपेक्षा से हम जाँचते रह सकते हैं कि सही दिशा में हम जा रहे हैं कि नहीं ।

आसक्ति के बिना आदमी टिक नहीं सकता है । पर अनासक्ति के बिना आदमी चल भी नहीं सकता है । आज यदि स्थिति में तनाव बहुत है और युद्ध की आशंका बनी रहती है तो निश्चय ही मूल में दो विरोधी आसक्तियाँ काम कर रही हैं । हरेक को अपना देश प्यारा है, रंग-ढंग प्यारा है । इतना कि उस प्यार की रक्षा में द्वेष जरूरी हो जाता है । ऐसी हालत में साहित्य के सिवा सहारा कहाँ रह जाता है कि प्रेम जहाँ अपना हो नहीं सकता, सबका ही हो

सकता है ।

निश्चय ही यह स्थिति बड़ी कष्टकर है । आप किसी के बन रहते हैं तो जिन्दगी आसान हो जाती है । पर अमुक एक के बनने में दूसरे से बिछुड़ना समाया है । जिसके लिये किसी से बिछुड़ने की इजाजत नहीं है, उसकी स्थिति बहुत ही दुर्गम है । उस स्थिति का निमन्त्रण किसी को नहीं दिया जा सकता । अतः साहित्यिक बनने का प्रोत्साहन देना बड़ा खतरनाक काम है । किसी की दुनिया उजाड़ना शुभ नहीं है । फिर भी जो उधर जाय उसे साहित्य के धर्म को पहचान लेना चाहिये । आँख खोलकर फिर भी वह बढ़े तो बढ़े । तब उसे शिकायत नहीं हो सकती ।

सच से नाता जोड़ने के बाद दूसरे नाते शिथिल बन जानेवाले हैं । वे टूटें तो भी टूटने देना होगा । साहित्य में लिहाज न होगा, न भय ही, न प्रत्याशा । उसमें कामना न होगी । उसमें उपासना होगी, सबकी और सबमें व्याप्त सत्य की । इससे अतिरिक्त किसी दम्भ और दर्प, किसी बल और अभिमान, का सम्मान वहां न हो सकेगा ।

आज की दुनिया की हालत यह है कि आना-जाना और मिलना-बोलना एक कोने से दूसरे कोने तक बेहद सुगम हो गया है । पर बंटी हुई वह देशों में है । देश की सरकारें अन्तर्देशीय व्यवहार-व्यापार का नियमन करती हैं । स्वभावतः यह अन्तर्राष्ट्रीयता राष्ट्रीय स्वार्थों के हित की भूमिका पर चलती है। साहित्यिक राष्ट्रीय हितों के अधीन होकर चलनेवाला प्राणी नहीं है । इससे उसको अपने ही देश और सरकार का सहारा मिले यह आवश्यक नहीं रह जाता । इसलिये वही व्यक्ति है जो मन से जागतिक होकर भी आज के दिन अन्तर्राष्ट्रीयता के लिये गैर-जरूरी पड़ जाता है । वह किसी एक कोने में रहता है, किसी एक भाषा में लिखता है । वह उस कोने और उस भाषा का ही बना रहे, इसकी बहुत सम्भावना है । संगठित स्वार्थ और सत्ताधीश उसको बल नहीं दे सकते । पर इसी स्थिति में उसे काम करना है; मानवता को एक

करना है और जगत में युद्ध को और उसकी आवश्यकता को निःशेष करना है।

यहाँ एक सान्त्वना है। वह यह कि सत्य का आग्रह जब साहित्य को और साहित्यिक को निस्संग, सार्वजनिक, फिर भी एकाकी, बनाता है, तब सहानुभूति का श्वास और स्वर उसकी वाणी को सार्वत्रिक बनने की क्षमता और सम्भावना दिए रहता है। उसकी अपील हृदय से हृदय को है। संगठित नहीं है, किंतु उससे अमोघ हो सकती है। साहित्य एक से एक के हृदय को छूता है और इस तरह एक ऐसे चेन रिएक्शन को जन्म दे सकता है कि उसका प्रभाव दुर्निवार्य हो आये। पर यह जन-जन के आधार पर ही हो सकता है। व्यापक लोकशक्ति का ही उसे भरोसा है। दलीय या वर्गीय या राष्ट्रीय या जातीय स्वार्थ-शक्ति का भरोसा उसे छोड़ देना होगा।

मई, १९५९.

उपन्यासकार और आपबीती

उपन्यासकार की हैसियत से मेरा काम आपबीती से बिलकुल नहीं चला है। यदा-कदा और यत्र-तत्र उसके खण्ड काम आ गए हैं तो आ गए हैं। इष्ट और केन्द्र का रूप उन्हें कभी मैं नहीं दे पाया हूँ।

प्रश्न है कि मैंने उपन्यास वगैरह में जो लिखा है सो क्या अपने ऊपर लिखा है। जो देखा और भुगता है उसी के आधार पर लिखा है?

नहीं, ठीक-ठीक 'अपने पर' नहीं लिखा है। हाँ, 'अपने को' अवश्य लिखा है।

इन दोनों में जो अन्तर है उसको तनिक खोलने की आवश्यकता है। मेरी आपबीती मेरा बहुत थोड़ा अंश है, वह बहुत सीमित है। इतने वर्षों में जो मेरे साथ हुआ है उतना ही नहीं, उसमें से भी जो याद में बचा रह गया है वही मेरी आप-बीती है। सृष्टि इस स्मृति के घरोंदे के भरोसे हो सकती है, इसकी सम्भावना कम है। मेरा भोगा और भुगता थोड़ा ही हो सकता है, अधिक तो वह ही है जो उससे बाहर रह जाता है। आखिर मैं असंख्य अनन्त में से एक होकर कितना कुछ भोग पा सकता हूँ। वह पूँजी अनिवार्यतः बहुत ओछी और उथली ही होती है।

यह भी लगता है कि वह सामग्री उतनी विश्वसनीय नहीं है। विश्वसनीय इसलिये नहीं कि स्मृति और रुचि भी अपना खेल उसके साथ खेला करती हैं; कुछ इसको प्रिय जानकर अपने पास रोक लेती है, कुछ अन्य अप्रिय को विसार देती है। इसमें यथार्थ ज्यों का त्यों सुरक्षित रह नहीं पाता, कुछ निजीय का भी समावेश हो जाता है। स्मृति के तंतुजाल प्रिय के कण को बुन फैलाकर बृहद आकार दे

सकते हैं, जबकि घटनात्मक रूप में कुछ बहुत बृहत भी हो घटा हो तो उसको एकदम शून्य कर डाल सकते हैं। रुचि-स्मृति का यह तमाशा अपनी ही आपबीती को मनमाना रूप दे जाता है !

मालूम होता है कि घटना को पकड़ने के लिये हमारे पास जो भी साधन हैं, घटित का रूप उन पर निर्भर करता है। ज्ञान और सम्वेदन के तन्तुओं से हम उसको ग्रहण करते हैं। इसलिये एक स्थान और एक समय पर हुई घटना का वर्णन अनेक जन अनेक प्रकार किये बिना नहीं रह सकते। किन्हीं दो का वर्णन एक नहीं हो पाता। कारण, वह वर्णन जितना घटना का होता है उतना ही वर्णन करनेवाले का भी होता है।

यह तो हुआ 'अपने पर'। अब 'अपने को'।

मुझ पर बीता जबकि सीमित है, घटना से सीमित और स्मृति से सीमित है, तब स्वयं 'मैं' उतना ही सीमित नहीं हूँ। कारण, शेष जितना बचा रह जाता है उससे मैं भावना, कामना और कल्पना का सम्बन्ध बनाने को स्वतन्त्र हूँ। इस सबके सहारे मैं असीम हो जाता हूँ। मेरा अनुभव सीमित हो सकता है, पर स्वप्न उस सीमा को मानकर इधर ही कैसे ठहर सकता है। सो स्वप्नशील कल्पना के सहारे मैं तमाम काल-आकाश में विहरण कर सकता हूँ। घटित जब कि मेरे साथ स्वल्प और सीमित है, तब अघटित सारा का सारा सम्भावना-लोक के रूप में मेरे भीतर क्रीड़ा करता रह सकता है।

प्रतीत होता है कि सृजन का कार्य इन सम्भावनाओं के जगत् में से अपनी अधिक प्रेरणा प्राप्त करता है। तथ्य थोड़ा बहुत काम दे सकता है, पर उस ठोस यथार्थ से जो स्वप्न को गति मिल जाती है, तथ्य का मुख्य दान हैं तो वह है। तथ्य मनुष्य के सम्वेदन पर आघात देकर नाना तरंगों को जन्म देता है। अनन्त विकल्प और अनुमानों की सृष्टि उससे होती है। अधिकाँश वे लहरें तथ्य से स्वतंत्र हो जाती हैं। हुआ वह तो अमुक रूप था, जो हो सकता था उसके रूपों का अन्त नहीं रहता। बस वे लहरें उन अनन्त संभावनाओं की ओर बढ़ने लगती हैं। मानो वहाँ व्यक्ति अपनी मुक्ति

अनुभव करता है। कर्म बन्धन है, स्वप्न में पहुंचकर उसे मोक्ष का लाभ होता लगता है।

तथ्य घटनात्मक और कर्मात्मक है। उसकी संभावनाएँ समाप्त हो चुकी हैं। जो है, उतना ही है। ऐसे तथ्य सर्वथा निश्चित और व्यतीत है। मानो वह चुक गया है। देना था वह दे चुका है और अब बीतता बन गया है। यह जो आनेवाला क्षण है, सब तरह की सम्भावनाओं से भरा तो वह है। तथ्य वह नहीं है, इसीलिए उससे हमारा सम्बन्ध तीव्रतर आकांक्षा और घनिष्ठता का होता है। वहीं सब कर्तव्य और सृजन की सम्भावनाएँ भरी हुई रहती हैं।

मेरे अपने साथ उपन्यास लेखक की हैसियत से यही घटित होता रहा है। पहला उपन्यास था मेरा 'परख'। उसमें स्पष्ट आपबीती का प्रभाव है। किन्तु प्रभाव इस रूप में कि वहाँ से कथा उठ पड़ी है। उस कथा को गति जो मिली है सो घटित तथ्य के आधार पर कैसे मिल सकती थी। घटित ने तो पट का काम भर दिया है। पट पर फिर क्रिया चलती है, कथा गति के बिना तो बनती नहीं। है से वह बढ़ती है हुआ की ओर। क्या हुआ, फिर क्या हुआ, उसके बाद क्या हुआ। इस तरह कथा को संभावनाओं में आगे अपनी राह खोजते चलना पड़ता है। 'परख' में आपबीती के खण्ड से आरम्भ करके इन सम्भावनाओं में से तर्क-विचार के सहारे-सहारे मैं आगे बढ़ता गया हूँ। उसी में से परख की कथासृष्टि होती गई है। नाना पात्र उसी मूल विचार में से अवतार पाते गये हैं। उनके नानात्व के अभाव में सम्भावनाओं के खेल को चित्रित किया नहीं जा सकता था।

तो 'अपने को' देने या पाने की कशिश में जो मेरा उपन्यास बना है, उसमें 'अपने पर' बीता यदि आया भी है तो सामग्री की भाँति उपयोग में आ गया है। उससे अधिक महत्व उसे नहीं मिल सका है। इस कारण नहीं कि मैं अपने घटित की अवज्ञा करना चाहता था, बल्कि अधिक इस कारण कि मैं अपने को उतना ही मान नहीं सकता था। दूसरे शब्दों में कहें तो भोक्ता मुझमें प्रधान

नहीं बन सकता था, उसके ऊपर दृष्टा और ज्ञाता ही प्रधान बन आता था। जिसने भुगता है वह तो निमित्त ही रह जाता था, उसको चलाने के लिए मानो ऊपर वह हो आता था जो भोग से बँधता नहीं है, जो उसको केवल देखता और जानता है।

जितना विचार करता हूँ इस घटना पर उतना ही विचित्र मालूम होता है। इसलिये कभी यह भी लगता है कि लिखना आध्यात्मिक अभ्यास का काम दे सकता है। मानसोपचार में जो यह कहा जाता है कि अवचेतन को चेतन में लाने मात्र से रोग की ग्रंथि खुल जाती है सो बात कुछ समझ में आती है। द्रष्टा हम हो जायँ और अपने ही भोक्ता को सर्वथा दृश्य का रूप दे सकें तो जान पड़ता है कि ऐसे एक दिन भोक्ता का उत्पात कम होने लग जायगा और द्रष्टा स्वाधीन बनेगा। भोक्ता उससे स्वतन्त्र और निरंकुश आचरण कर नहीं सकेगा।

वह जो हो, उपन्यासकार की हैसियत से मेरा काम आप-बीती से बिलकुल नहीं चला है। यदाकदा और यत्रतत्र उसके खण्ड काम आ गए हैं तो आ गए हैं, इष्ट और केन्द्र का रूप उन्हें कभी मैं नहीं दे पाया हूँ। पहला उपन्यास मेरा परख है। पहला है इसलिए अपने से बहुत दूर जाने की मुझे वहाँ सूझ ही नहीं सकती थी। एकदम आपबीती से वह शुरू हो गया है, लेकिन बड़ा विचार में से है। मेरे मन में उस समय भी एक परिणाम बनकर स्पष्ट होता आ रहा था, वह यह कि आदर्शवाद काम नहीं देता है। आदर्श के नाम पर अपने ही मनोरथों को हम सामने टाँग लेते हैं, पाँव लेकिन परिस्थिति की धरती पर चलते हैं। इस तरह समय आता है कि अपने को स्वीकार करने में आदर्श के साथ हमें समझौता करना पड़ता है। परिणाम एक मिथ्याचार होता है। अतः जान पड़ा कि शायद जीवन में वह अधिक स्थिर और सफल हो सकता है जो प्रसन्न स्वीकरता से चलता है, आदर्श के दावे को कंधों पर ऊँचा उठाकर चलता हुआ नहीं दीखता। इस परिणाम पर पहुँचते हुए विचार के हाथ में आपबीती से मिली परिस्थिति

पड़ गई, उसमें से कथा को जो मोड़-तोड़ मिलता चला गया सो चला गया। अन्त में कुल मिलाकर जो 'परख' बनी उससे मानो यह विचार परिपुष्ट होता हुआ दीखा। सत्यधन महाशय, जो कथा के आरम्भ में नायक के रूप में अवतार पाते गये, आगे व्यर्थ हुए और बिहारी नाम के अन्य बन्धु कृत-कार्य बने। बिहारी वहाँ सर्वथा कल्पना में से बन आये हैं और गरिमा भी आपबीती के आसपास से नहीं उपजी हैं। इन दोनों चरित्रों की सृष्टि आवश्यक यदि हुई तो आपबीती के निमित से नहीं, बल्कि सर्वथा उस मूल विचार के कारण जिसकी सम्पन्नता की ओर कथा-वस्तु को बढ़ते और उठते जाना था।

दूसरा उपन्यास मेरा है 'सुनीता'। कथा का आरम्भ वहाँ भी आपबीती नहीं तो आप-देखी में से हो गया है। लेकिन वह हुआ तब जब इसी प्रकार का एक विचार, या कहना चाहिये प्रश्न, लेखक के मन में उदित हुआ और उसके लिये कथा की आवश्यकता हुई। सुनीता की सारी कथा तद्विचाराधीन कल्पना के आधार बुनती गई है। इतना ही है कि कल्पना मनमानी नहीं चली है, तर्क के साथ साथ आगे बढ़ी है। ऐसे वह यथार्थता के उपादानों का संचय अवश्य करती गई है, लेकिन उनकी रक्षा के प्रति कथा ने अपना दायित्व नहीं स्वीकार किया है। यहाँ तक कि तर्क सामाजिक यथार्थ की सम्भावनाओं को पार कर गया है। बहुत ऊहापोह हुआ है उस रचना पर। खासकर उस नग्नता के प्रसंग पर जहाँ पुस्तक का विचार एक परिसमाप्ति पर आया मालूम होता है। उपन्यास-कार की हैसियत से मैंने अपना धर्म घटना पर रुक जाना नहीं माना है। कारण, घटना में से अपने आप में मैं प्रेरणा ही नहीं पा सका हूँ। अनुमानित सम्भावनाएँ मुझसे लिखाती रही हैं और उन्हीं के आधार पर अमुक कथावस्तु को लेकर मैं रचना करता चला गया हूँ। उस प्रकार की सूझ पास न हो तो मेरा काम आरम्भ ही नहीं हो पाता। इसलिये 'सुनीता' में मैंने कहीं सामाजिक यथार्थ का अतिक्रमण किया है तो उसमें कुछ अयुक्त मुझे नहीं प्रतीत हुआ

है। आज भी उस सम्बन्ध में पश्चात्ताप की आवश्यकता नहीं जान पड़ती।

रवीन्द्रनाथ के चार अध्याय की यहाँ याद की जा सकती है। सुनीता में उसका भी किंचित योग रहा है। रवींद्रनाथ ने सामाजिक यथार्थ की अपनी रचना में मानो रक्षा की है, गिरस्ती टूटी नहीं है। पत्नी द्वारा पश्चाताप कराया गया है और जो नायक महिमामय रूप में कथा के आरम्भ में अवतरित हुआ है, अंत की ओर उसे ही स्खलित और परास्त होकर मुँह बचाकर भाग जाना पड़ा है। गिरस्ती तो सुनीता में भी नहीं टूटी है, लेकिन जिस भाँति उसकी रक्षा हुई है वह पलायन का प्रकार नहीं है। 'चार अध्याय' पढ़ते मुझे प्रतीत हुआ था कि समस्या-निदान की दृष्टि से उसमें पूरा न्याय नहीं हो सका है। सुनीता में उस समस्या-विचार को लेकर मैं बीच में रुकने को तैयार नहीं था, न पलायन अपना सकता था। इसलिये हठात् कथा को वहाँ तक बढ़ाता चला गया जहाँ तक तर्क का छोर आता था। यह सब प्रक्रिया जिस आधार पर सम्भव बन सकी, वह भुक्तभोग की अनुभूति नहीं हो सकती थी। वहाँ तो कल्पना और चिन्तन का ही सहारा था।

उसके बाद 'त्यागपत्र' में भी यही है। यहाँ से वहाँ तक वह कथा विशुद्ध कल्पना पर खड़ी है। आपबीती के तत्व छिटके-फुटके रूप में यहाँ-वहाँ देखे जा सकते हैं, पर वे कथा के कलेवर में, मकान में ईंट की तरह, चिनाई के काम आ गये हैं। उससे अधिक अर्थ वहाँ उनका नहीं है। सारी कथा अन्त में जैसे यह कहने की ओर बढ़ती जाती है कि अपने दुख-दर्द में से मिलते प्रकाश को अस्वीकार करके जब हम महत्वाकांक्षा में उठते-बढ़ते चले जाते हैं तो यह जीवन का और व्यक्तित्व का सही विकास नहीं है, उसमें मुक्ति और पूर्णता नहीं है। उसमें केवल अभिमान का पोषण है, जिसमें शायद आत्मा का शोषण समाया रहता है। कथा कहनेवाला वहाँ न्यायाधीश है, आपबीती के रूप में वह अपने जीवन पर विचार करता है और अन्त में त्यागपत्र देता है। कथा के उस पट को घेरे हुए जो उसकी

बूआ मृणाल है, उनका चरित्र सामान्य आँखों से नहीं उस 'न्यायाधीश' की आँखों से देखा गया है जो सम्वेदन में से घुलकर निराधीरोदात्त हो आया है और इसलिये सचमें अपना ही न्यायाधीश है। इस न्याय-विचार में ही सामान्य यथार्थ की सीमाओं पर रुकना नहीं हो सका है।

शेष अपने एक-एक उपन्यास की चर्चा करने की यहाँ जगह नहीं, आवश्यकता भी नहीं है। मैंने लिखा थोड़ा है और सच यह कि उपन्यास के सम्बन्ध में कभी कुछ जाना नहीं है। हो सकता है कि उपन्यास मेरे उपन्यास हों ही नहीं; मनगढ़ंत कुछ ऐसी रचनाएँ हों, जिनको उपन्यास की श्रेणी में कृपापूर्वक ही सम्मिलित किया जा सकता हो। जो भी हो, मेरे साथ आपबीती प्रमुख नहीं रही है, कल्पना प्रमुख रही है। और उस कल्पना में रीढ़ के तौर पर वह विचार प्रमुख रहा है जो कथा को आगे बढ़ाकर उसे स्वरूप देता चला गया है। यहाँ तक कि अन्तिम उपन्यास 'जयवर्धन' इस कदर कोरा गढ़ंत है कि हद नहीं। वहाँ काल-देश की तनिक यथार्थता नहीं है, पात्र और चरित्र सब कल्पित और कृत्रिम हैं। साफ़ और उजागर वे जीवन-यथार्थ की भूमिका पर विचरते नहीं मालूम होते हैं। उपन्यासकार की हैसियत से शायद यह अक्षम्य हो सकता है और मुझसे क्षमा की प्रार्थना की अपेक्षा रखी जा सकती है। लेकिन उपन्यास मेरे लिये इष्ट था नहीं, है नहीं, कोरा निमित्त है। और यह स्वीकार करने में मुझे तनिक असुविधा और दुविधा नहीं जान पड़ती कि मेरा, या संसार का, अनुभव मेरे लिखने में उतना नहीं है जितना कि एक तत्वाश्रित अनुमानवाद है।

अगस्त, १९६०.

भाषा और चिन्ह

चिन्ह गलत जगह लग जाय तो उससे भीषण अनर्थ हुए बिना न रहेगा। न लगे तो उससे उतनी आशंका नहीं रहती। इसलिये शायद यह उचित ही होगा कि चिन्हों का सहारा यत्किंचित भी छोड़ दिया जाय।

मेरे एक लेख में दो वाक्य यों छपे हैं: 'चेखव की अनासक्ति उस तरह रागशून्य नहीं है। अनासक्ति तो वह इस कारण है कि चेखव का राग-द्वेष निर्भर नहीं है, वह सबके प्रति अनुराग-पूर्ण है।'

क्या इसका कुछ भी अर्थ बनता है? पढ़ते समय मैं स्वयं ही चकरा कर रह गया। दूसरे पाठकों का क्या हाल हुआ होगा, मैं नहीं कह सकता। पहले वाक्य का अर्थ तो स्पष्ट है। पर दूसरे वाक्य का, कम से कम मैं, प्रयत्नपूर्वक भी कोई अर्थ नहीं बना पाता हूँ। बहुत देर तक सोचता रह गया कि इस दूसरे वाक्य में अर्थ तो है नहीं, फिर ग़लती है तो कहाँ है। मूल में क्या लिखा गया होगा? पाँच सात मिनट कुछ सूझ न पड़ा। अन्त में भूल समझ में आयी। वाक्य में 'राग-द्वेष निर्भर' जो छपा है सो 'राग द्वेष-निर्भर' होना चाहिए था। बस, इतनी-सी भूल से अर्थ का अनर्थ हो गया है।

यहाँ भाषा और उसके अंकन का सवाल उठता है। बोलते समय भाषा में आरोह-अवरोह होता है। कहीं बीच में कम रुकते हैं, कहीं ज़्यादा रुकते हैं। लिखते समय ध्वनि की यह सहायता भाषा के पास रहती नहीं, इसलिए 'पंक्चुएशन' (विराम चिह्नों) का निर्माण किया गया है। उससे हम भाषा को संभालते हैं और अर्थ को, जहाँ तक हो, बिखरने नहीं देते हैं। विराम चिह्न के बिना भाषा जैसे अपना पूरा काम अदा नहीं कर पाती।

एक का भाव दूसरे तक पहुँचे, और सिर्फ काग़ज़ पर छपे शब्द के द्वारा, यह एक विस्मय ही है। भाषा वही आश्चर्य है। उससे व्यक्तिगत भाव सार्वभौम तक हो जाता है। लेकिन भाषा सहारा बनती है, भाव को अपने में बन्द नहीं बना लेती। वह भाव जगा भर देने का काम करती है। वह प्रतीक होती है, सूचक होती है। और यदि भाव के साथ तद्‌गतता प्राप्त हो जाए तो भाषागत त्रुटि भी सह्य हो जाती है और भाव-बोध में बाधा उपस्थित नहीं करती।

हिन्दी में विराम चिह्नों का रिवाज हाल में चला है। संस्कृत में पहले एक खड़ी पाई हुआ करती थी। बस उतने से चलता था। हिन्दी में भी शुरू में उस पूर्ण विराम की पाई से ही काम चला लिया जाता था। इससे साहित्य की विशेष हानि हुई, सो नहीं कहा जा सकता।

पर अंग्रेजी की देखादेखी चिह्नों की भरमार हिन्दी में भी आ गयी है। मैं स्वयं शुरू में अन्धाधुंध उनका प्रयोग करता था। 'परख' की प्रति में अब तक उन्हें जहाँ-तहाँ बिखरे पड़े देख लीजिए। लेकिन आज ऊपर की इस अशुद्धि से मैं बड़े झमेले में पड़ गया हूँ। यों तो क्रमशः विराम चिह्नों का उपयोग मेरे साथ कम होता जा रहा है, लेकिन इस ताजा उदाहरण से मालूम होता है कि अगर सिर्फ खड़ी पाई ही हमारे पास रह जाए तो उससे अनर्थ होने की सम्भावना कम ही होगी, बढ़ेगी नहीं।

ऊपर के वाक्य में 'राग' और 'द्वेष' के बीच में 'हाइफन' का चिह्न है। इससे राग और द्वेष दोनों संयुक्त हो जाते हैं, निर्भर अलग जा पड़ता है। मैंने चेखव के बारे में कहना चाहा था कि वह अनासक्त है, पर रागशून्य नहीं। वस्तुतः राग उसका अनासक्ति का अविरोधी इसलिए है कि वह द्वेष-निर्भर नहीं है। इस सारे अर्थ को बीच में 'हाइफन' ने आ कर खब्त कर डाला है। ऐसी भूल जब तक 'हाइफन' का चिह्न मौजूद है, होती ही रहेगी। निश्चय ही वह चिह्न मूल प्रति में 'द्वेष' और 'निर्भर' के बीच रहा होगा।

किन्तु प्रेस के 'कम्पोजिटर' को हम कमसमझ आदमी नहीं मान सकते। इसलिए इलाज यह नहीं मालूम होता कि कम्पोजिटर को ताक़ीद की जाए। कारगर इलाज यही मालूम होता है कि इस चिह्न को ही एकदम छुट्टी दे दी जाए।

मान लीजिए कि ऊपर के वाक्य में वह चिह्न कहीं छपता ही नहीं। तब मुझे निश्चय है कि भाव के साथ चलनेवाले पाठक के लिए अर्थ भंग का तनिक अवसर न आएगा। वह शब्दों की संगति को ठीक-ठीक पकड़ेगा और चिह्न का अभाव उसके लिए बाधक किसी तरह न होगा। लेकिन जिस हालत में वाक्य छपा है, उससे सावधान से सावधान पाठक भ्रम में पड़ जाएगा। आगे, यदि जैनेन्द्र में उसका विश्वास हुआ, तो उसमें से ऊटपटाँग कुछ भी अर्थ निकाल लेने का आग्रह रखेगा।

मुझे अपने बारे में बड़ा डर रहता है । सम्पादक लोग लिपि को छूते नहीं हैं। पाठक भी कोशिश करता रहता है कि जैसा जो है उसी में से कुछ न कुछ अर्थ पाले। भाषा की शिक्षा जो मुझे प्राप्त नहीं हुई है, और इस कारण सर्वथा अपने रूप में ही उसका प्रयोग करने को जो मैं विवश रह जाता हूँ, सो उससे व्यवधान पैदा होता है। आखिर बात उतने ही शब्दों से कहनी है। बस शब्दों पर वज़न के हेर-फेर से ही भाव व्यक्त करना रहता है। इससे भाषा के साथ बर्तन कुछ अतिरिक्त स्वतंत्र हो जाता होगा। उससे जो अनोखापन भाषा को हठात् मिलता है, उसपर पाठक अपनी ओर से अभियोग नहीं डालना चाहता। यह कारण है कि मेरी रचनाओं में अशुद्धियाँ छपती रहती हैं और शिकायत नहीं होती। शिकायत होती है तो यह कि जैनेन्द्र जानबूझ कर अटपटी भाषा लिखता है। नाना चिह्न आजकल उपयोग में आया करते हैं। अंग्रेजी में हर चिह्न का एक स्थान है और उस बारे में स्पष्ट मर्यादा भी है। हिन्दी का स्वरूप कुछ भिन्न है। उसमें वाक्य छोटे और गठे होते हैं और क्लिष्ट और मिश्रित वाक्यों की प्रणाली प्रचलित नहीं है । मुझे लगता है कि अंग्रेजी में काम आनेवाले

अनेक चिह्नों को हिन्दी के लिए हम छोड़ दे सकते हैं। सच यह है कि चिह्नों से वाक्य के भाव को बाँधने की चेष्टा एक सीमा तक ही सार्थक होती है। शेष में तो अभिव्यक्ति का वेग ही पाठक को साथ रखता है। चिह्नों के सहारे से भी आखिर बोली गयी या विचारी गयी भाषा का पूरा प्रतिबिंब तो बन नहीं जाता। अन्त में भाव की अन्विति पाठक के मन में भी साथ-साथ उठती चली आए तभी भाषा सार्थक बनती है। इसलिए मुझे जान पड़ता है कि अतिरिक्त चिह्नों के बिना भी पाठक के लिए कोई बड़ी बाधा नहीं होगी।

भाव-प्रवाह की दृष्टि से अभी अंग्रेजी की कविता में चिह्नों के प्रयोग से मुक्ति ली जा रही है। शायद समझा जाता है कि इस तरह भावप्रवाह में रुद्ध व्यक्त होता और बद्ध निर्बाध होता है। अंग्रेजी कविता के संबंध में तो मुझे कुछ कहने का अधिकार नहीं है। लेकिन एक पाई के सहारे हमारा जो समूचा संस्कृत, प्राकृत और देशज भाषाओं का वाङ्मय खड़ा है सो उसे टिकते चले जाने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं हुई है।

अव्वल तो यह जरूरी है कि विराम चिह्नों के उपयोग को हिन्दी में निर्णीत और नियुक्त किया जाए। अभी अराजकता है। हमारा व्याकरण वाक्य के अन्य अंग-प्रत्यंग की और विभक्ति-प्रत्यय की सँभाल रखता है, लेकिन इस ओर उसे अभी काफी काम करने को शेष रहता है। जान पड़ता है, सहसा वे विराम चिह्न अभी चलन से गिरनेवाले नहीं हैं। कुछ वे विद्वत्ता के चिह्न भी बन गये हैं। ऐसी अवस्था में चिकित्सा का आरंभ तो उनके उपयोग में व्यवस्था और मर्यादा लाने से होगा।

बहुत आगे जाकर मुझे प्रतीत होता है कि चिह्नों की टेकन उतनी उपयोगी न रह जाएगी। भाषा इतनी प्रवाही और लचीली बनती जाएगी कि अधिक से अधिक चिह्न भी न्याय के साथ उसे अंकित नहीं कर पाएँगे। तब लिपि शायद अपरिग्रही बनने में ही उपाय देखेगी। शब्द आपस में किस संगति और संबंध

में जुड़े हैं, इसे पाठक की ग्रहण शक्ति स्वयं उसके आगे स्पष्ट करती जाएगी। असल में, अन्त में तो पाठक की ओर से आने वाली भावानुभूति ही, शब्दों के बीच के अन्तराल को भरती हुई, भाषा को ऐक्य देती है। शब्द यों तो बिखरे ही छपते हैं। हर दो शब्दों के बीच कुछ अन्तर रहता है। लेकिन शब्दों की इस अनेकता में से जो अर्थ और भाव की एकता प्रस्तुत होती है तो तब जब वह इधर लेखक के मन से जाती है और उधर पाठक के मन से आती है।

वाङ्मय कितना विपुल है, अक्षर गिनती के हैं। उन गिनती के अक्षरों से शब्द बनते हैं जिनकी संख्या कितनी भी हो, है सीमित ही। उन शब्दों के परस्पर संयोग से फिर जो अर्थ-भाव और ध्वनि का नानात्व प्रकट होता है, उसकी सीमा अवश्य नहीं है। सच यह है कि साहित्य की भाषा के उपयोग में आया प्रत्येक शब्द अपना अर्थ ही नहीं देता है, बल्कि उससे बहुत अधिक दे जाता है। अर्थ तो बँधा और बंद-सा रहता है। अर्थवाहक चाकर शब्द मानो साहित्य में आकर मालिक और मुक्त बनता है। उसकी सार्थकता वहाँ परिपूर्ण होती है। इसलिए, साहित्य के द्वारा, हम देखते हैं कि शब्द का अर्थ कहीं से उठकर कहीं पहुँच जाता है। उसकी व्यापकता बढ़ती जाती है और प्रसंगानुसार नाना भाव वहन की शक्ति उसमें पड़ जाती है।

यों देखें तो विराम चिह्नों में अपना कोई भावार्थ नहीं है। लेकिन आज की भाषा में वे चिह्न शब्दों से कम नहीं, कुछ अधिक ही उपयोगी हैं। आपसी व्यवहार में जैसे मौन भी बोलता है, वैसे ही भाषा में शब्द का अभाव भी बोलता है। दो या तीन नुक्ते डाल कर जाने हम कितना नहीं कह जाते! छापे में वे नुक्ते ज़रा-सी जगह घेरते हैं, एक छोटा-सा शब्द भी उस खाली जगह से बड़ा होता है। लेकिन दो नुक्ते अनेक वाक्यों का भाव दे जाते हैं।

आखिर चिह्न चिह्न हैं। वे इसलिए हैं कि मन को मन के पास लाने में सहायक हों। बड़ी आसानी से समझा जा सकता है

कि कैसे उन चिह्नों की अधिकता ही दो मनों को निकट के बजाय दूर बना सकती है। सामान्य अनुभव है कि ज़्यादा बोलने से दूरी बढ़ने लग जाती है। घनिष्ठता में शब्द कम होते जाते हैं। इसी भाँति, आगे जाकर, हो सकता है कि घनिष्ठ भाषा साज-सज्जा से विहीन, निरी अपरिग्रही हो चले; इधर-उधर का बहुत आडम्बर उसके पास रह न जाए। शब्दों में संगति दरसाने का कोई ऊपरी दिखावा न हो, और संदर्भ के अनुसार भाव अनायास मिलता चला जाए।

आरंभ के अपने दो वाक्यों को पढ़कर मैं सचमुच बहुत हैरान रह जाता हूँ। यह अनुभव नया नहीं है। किन्तु मैं निश्चय नहीं कर पाता था। लेकिन यह प्रसंग इतना नया है और चूक इतनी छोटी, केवल 'हाइफ़न' की, है कि उसने मुझे कुछ निर्णय अपनाने के लिए विवश कर दिया है। जान पड़ता है कि आगे के लिये अगर मैं केवल एक पूर्ण विराम की पाई का ही उपयोग विहित रखूँ तो उससे सहारा ही होगा। मेरे और पाठक के बीच अनेक दु:संभावनाएँ उससे असंभव बन जाएँगी। कभी-कभी अर्धविराम की भी छूट रखना आवश्यक मालूम होता है। लेकिन 'कोलन, सेमी कोलन, डैश, हाइफ़न' इत्यादि-इत्यादि से मुक्ति ले ली जाए तो शायद यह दु:साहस नहीं होगा।

चिह्नों से आखिर हम साधते क्या हैं? शब्दों में उनके द्वारा हम अप्रत्यक्षतया दूर-पास का संबंध दरसाते हैं। पर वाक्य के भाव में तो शब्दों का अर्थ उस तरह परस्पर दूर-पास होकर नहीं चलता। वह तो एक सातत्य में प्रवाहित रहता है। फिर, जो उनके परस्पर संबंधों में सूक्ष्म तरतमता है, चिह्न उसे पूरी तरह तो अंकित कर नहीं सकते। इसलिए परिपूर्ण भावप्रेक्षण के लिए शायद यह उचित ही होगा कि चिह्नों का सहारा यत्किंचित् भी छोड़ दिया जाए।

जो हो, यह तो अनिवार्य ही है कि ऊपर जैसा प्रसंग आगे घटित न हो। यह दुर्घटना प्रूफ़रीडर के भरोसे असंभव नहीं बन

सकती। पर असंभव उसे अवश्य-अवश्य बनाना है। शब्द की गलत छपाई, हिज्जे की अशुद्धि, विभक्ति में मात्रा का टूटना, वगैरह ऐसी त्रुटियाँ हैं जिन्हें पाठक समझ लेता है। अर्थ-भंग सहसा उपस्थित होने पर भी एकाएक लगे झटके के कारण पाठक अटकता है और जरा रुक कर सावधान हो जाता है; पहचान लेता है कि यहाँ भूल हुई है। पर प्रस्तुत प्रसंग में भूल को पकड़ना असंभवप्राय हो गया है। कहा न कि मैं खुद दंग रह गया और पाँच सात मिनट में वाक्य के सही रूप का अनुमान कर सका। चिह्न गलत जगह लग जाए तो उससे भीषण अनर्थ हुए बिना न रहेगा; न लगे तो उससे उतनी आशंका नहीं रहती।

अपने सम्बन्ध में तो मेरे मन में निर्णय-सा ही बना आ रहा है। क्या विद्वज्जन इस विषय में मार्गदर्शन देंगे ?

मई, १९६०.

पत्नी और प्रतिभा

पुरुष अपने में पूर्ण हो सकता तो सृष्टि के विधान में स्त्री की आवश्यकता न थी। ऐसे ही स्त्री अपने में पूर्ण हो पाती तो पुरुष अविद्यमान ही रहता। दोनों यदि हैं और परस्परता के बिना चारा नहीं है तो विग्रह कितना भी होता रहे, सन्धि की भूमि अवश्य आवश्यक है। पति-पत्नी-संबंध विग्रह के बीच संधि के लिए एक स्थायी भूमिका देता है।

अनायास मंडली सी जुट गई और नाम बीच में आ गया तालस्ताय का। उनकी पचासवीं बरसी मनाई जानेवाली है। जगह-जगह सभाएँ होंगी, स्मरण होगा, विचार होगा। यह सब उन तालस्ताय को लेकर होगा जो शरीर में नहीं हैं, हर मन में जीवित हैं। उनकी रचनाएँ पढ़ते हैं और लगता है तालस्ताय के हृदय की धड़कन हमारी अपनी बनी जा रही है। उन्होंने मानव के हृदय को छुआ है। हम नाम-रूपधारी जन एक-एक कर मरते रहेंगे, पर मनुष्य जियेगा। जिसके शब्द की धड़कन मानव-जाति के हृदय को स्पंदन देती रहेगी, वह शब्ददाता मर नहीं पायेगा। उसको अमर रखा जायेगा।

विचित्र सा लगता है यह कि एक आदमी मर जाय, शेष फिर भी उसे जिलाये रखें। मालूम होता है कि इस तरह मरता और खतम होता कुछ वही है जो उस लायक होता है। अनुभूत सत्य मरता नहीं है। जैसे जीवन जीता चला जाता है, उसी के साथ वह भी जीता चला जाता है।

लेकिन जमा हुए हम लेखक बिरादरी के थे। एक तरह तालस्ताय के सजातीय थे। उस आत्मीय भाव में विनय और

सम्मान देना आवश्यक नहीं रह जाता है। बेतकल्लुफी का व्यवहार हो निकलता है।

अ ने कहा—क्या खूब आदमी था तालस्ताय। मौत भी अपने ढंग की पाई, अद्वितीय!

ब ने कहा—और क्या! क्या वह घर में खाट पर मरने वाला था। घर से बाहर सबकी शरण में मरा और ऐसे कि दुनिया दहल गई।

स ने कहा—बात ठीक है। प्रतिभा और पत्नी का योग हो नहीं सकता। पत्नी प्रतिभा को चाट जाती है। तालस्ताय को आखिर भागना पड़ गया अपनी प्रतिभा की खातिर, नहीं तो घर में हरदम भों-भों। मैं कहता हूँ प्रतिभावाला मरेगा अगर शादी करेगा। बीबी की और प्रतिभा की दुश्मनी मिट नहीं सकती। दोनों में से किसी एक को मिटना पड़ेगा।

"देखो बेचारे को! जिन्दगी भर प्यार की सीख देता रहा, उसकी बारीकियाँ खोलता रहा। लेकिन एक पत्नी को न निभा सका। जाने पत्नी के सामने उसके प्रेम को क्या हो जाता था...मैं तो खुले आम कहूँगा, जिसे कुछ करना है वह ब्याह न करे।"

"क्या करे?"

"करे क्या! रचना करे, सृजन करे, काम करे....."

"रचना खाक करे! मैं पूछता हूँ अपना क्या करे? स्त्री पर पीठ फेर ले? आधी दुनिया को पूरी मान ले? पुरुष होकर स्त्री को इन्कार कर दे? यह हो नहीं सकता। किसी तरह नहीं हो सकता।"

"बड़े अहमक हो। मैंने कहा, बीवी, औरत तो नहीं कहा।"

"क्या मतलब?....व्यभिचार?"

"रखो व्यभिचार को। मैं कहता हूँ गृहस्थी खटराग है। घर-गिरिस्ती की, कि आदमी गया। दिमाग नून-तेल लकड़ी का हो गया। सचाइयों में वह फिर कैसे उठ सकता है। समय पार कैसे जा सकता है। सदाक़त कैसे थामे रह सकता है। हर समझौते में तब वह

गिरेगा। मिशन उसके पास तब रह नहीं पायेगा, सिर पर गिरिस्ती का जुआ होगा और वही उसका चक्कर होगा। तब लिखेगा तो पैसे के लिये। मरेगा तो पैसे के लिये। तब वह खाक इन्सान रहेगा। आदमी था तालस्ताय। बीवी झींका करे दिन रात, अन्दर वह उससे कितना ही त्रास पाता रहा, पर सुनी नहीं एक भी। करता अपनी गया। निभाव नहीं हुआ, तो घर से निकल भागा। आत्मा को नहीं खोया, गिरिस्ती को खो देना खुशी से मंजूर किया।"

पाठक जानते होंगे कि पत्नी के झगड़े से तंग आकर पकी उमर में तालस्ताय एक रात चोरी-चोरी घर से निकल भागे थे। तभी उन्हें बीमारी ने पकड़ा और राह में एक अनजाने से स्टेशन मास्टर के कमरे में उनकी मौत हुई। काउंट थे, अतिशय संपन्न थे। दुनिया में नाम था। पर मरने के लिये यही अनहोनी जगह उन्हें मिली!

"निभाव की बात किसने कही थी। मैं उसका क़ायल हूँ। मर्दुमी निबाहते जाने में है। बीवी को निभा न सके वह क्या आदमी! जरा होशियारी जरूर चाहिए। तालस्ताय कामयाब नहीं हुए। शायद जरूरत से ज्यादा सच्चे रहे होंगे। प्रतिभा यह कब कहती है कि आप सच्चे इतने हो जाइए कि चतुर रह ही न जायं। क्यों साहब, क्या खयाल है?"

"प्रतिभा आप किसे कहते हैं?"

"कम्बख्त है क्या वह! यह कि आदमी में लचक न हो, लोच न हो? सीधा, सतर सिद्धांत हो और मुड़ तक न सके? मैं इसे पागलपन कहूँगा।"

"पागल और प्रतिभावान में ज्यादा अन्तर कब होता है!"

"नहीं होता तो रखिये अपनी प्रतिभा को। मुझे किसी हालत पागल होना मंजूर नहीं है। मैं कहता हूँ, औरत कसौटी है और दुनिया औरत है। याने दुनिया आदमी की कसौटी है। किताबे लिखीं, ठीक है; पर कसौटी पर तालस्ताय साबित नहीं उतरे तो

बताइए क्या किया जाय। लेखक की हैसियत से चलिए तारीफ कर लीजिए। लेकिन इन्सान की हैसियत से आप कुछ कहिए, मैं उनका कायल नहीं हो सकता।"

"औरत के लिये आदमी टूट जाय ? यह कहाँ की कामयाबी है, उसूल औरत से बड़ी चीज है। मैं नहीं मानता औरत को कसौटी। न दुनिया को औरत मानता हूँ।"

...मंडली की बातचीत इतनी बिखरी रही कि उसको समेटा नहीं जा सकता। उसमें सार रूप इतना भर देखें कि उस वर्ग का मानस क्या है, जिसका काम अन्तिम सत्य की खोज में रहना है। बातचीत में जिन बंधु का स्वर सबसे ऊँचा रहा उनका यही टेक थी कि पत्नी प्रतिभा की शत्रु होती है; विवाह से बड़ा खतरा नहीं है; उठता-उठता आदमी उससे नीचे आ पड़ता है; और जिसे कुछ करना है कृपा कर वह बीबी बच्चे न करे। रूसो ठीक था कि बच्चे किये तो एक-एक कर उन्हें अनाथालय में डालता गया।

तालस्ताय तो उपलक्ष ही थे। उनका अभिनन्दन सभा में जाकर करना होगा, उसके लिये यह स्थान नहीं है। उनके व्यक्तित्व से जो यह व्यक्ति और परिवार का प्रश्न उठ खड़ा हुआ है, उसी से थोड़ा यहाँ उलझ लेना है।

देखता हूँ कि परिवार संस्था डगमगा रही है। परिवार मर्यादाओं से बनता है। परस्पर कर्तव्य होते हैं, अनुशासन होता है और उस नियत परंपरा में कुछ जानों की इकाई एक हित के आसपास जुट कर व्यूह में चलती है। उस इकाई के प्रति हर सदस्य अपना आत्म-दान करता है, इज्जत खानदान की होती है। हर एक उससे लाभ लेता और उसे अपना त्याग देता है।

लेकिन इधर व्यक्तित्व की मांग हो चली है। कुलप्रतिष्ठा का लक्ष जैसे हट गया है, उसकी जगह आत्म-प्रतिष्ठा ने ले ली है। प्रत्येक अपने व्यक्तित्व का विकास चाहता है, और शेष को उसके लिये चाहता है। व्यक्तित्व की इस मांग ने संघर्ष को तीव्र कर दिया है। यहाँ तक कि स्त्री-पुरुष विवाह द्वारा एक इकाई नहीं

बना पाते, दो के दो बने रहते हैं। पहले इस द्वित्व का बहुत कुछ हरण तो विवाह ही कर लेता था, फिर शिशु बीच में आकर उन को और भी एकता दे देता था। लेकिन व्यक्तित्व की इस मांग ने कुछ ऐसी स्थिति ला दी है कि यह बालक नाम का तीसरा सदस्य बीच में आकर एकता नहीं लाता, प्रत्युत केन्द्र को और बिखरा देता है। पुरुष अपना काम करता है, स्त्री अपना काम करती है और बालक जैसे-तैसे अपने को व्यस्त रखता है। पैसा हुआ तो बालक आया के सुपुर्द हो जाता है।

ऊपर प्रतिभा शब्द आया है। शायद प्रतिभा अपने प्रति अडिग ईमानदारी को कहते हैं। यह भी सच है कि अपने को ही सर्वथा अपने प्रेम का केन्द्र बना लेने से मनुष्य को एक पागलपन प्राप्त हो जाता है। पागल वही जो अपने में मुंह गाड़ इतना उलट जाय कि अपनी कल्पनाओं को सच ठहराए और बाहर की यथार्थताओं को झुठला दे। वह अपने मनोलोक को बसाये रहता है और शेष इहलोक से वास्ता तुड़ा लेता है। सिद्धांतवादी, प्रतिभावादी, व्यक्तित्ववादी के साथ उत्तरोत्तर ऐसा होता हो कि उनका वास्ता व्यवहार-लोक से ढीला होकर टूटता जाय और सिद्धान्त लोक से जुड़ता चला जाय तो अचरज नहीं है।

तालस्ताय इतने सफल लेखक हैं कि असफल पति और पिता हों तो इसके लिये मन में शिकायत नहीं होनी चाहिये। जो नाम कमाते हैं, यशकीर्ति कमाते हैं, उनके पारिवारिक जन मानो उसी में से थोड़ा बहुत रस खींच लेते हैं। जैसे उनसे फिर दूसरा प्रतिदान नहीं मांगा जाता, उनके आत्मदान को स्वतन्त्र रहने दिया जाता है कि जहाँ अर्पित हो, हो। यह स्वतन्त्रता व्यक्ति को बड़े मूल्य पर मिलती है। सामाजिक और पारिवारिक कर्तव्य चारों ओर रहते ही हैं। उनमें वह आबद्ध अनुभव कर आता है कि जब उन मांगों को सुनना नहीं चाहता और उनके प्रति अपने को देना नहीं चाहता। ऐसे वह परतंत्र बन जाता है। स्वतन्त्र बनने के लिये इसलिये या तो मार्ग यह रह जाता है कि वह उन कर्तव्यों और मर्यादाओं

से तोड़कर अपने को अलग कर ले, या फिर उपाय यह है कि यथावश्यक आत्मदान उसका पारिवारिकों को भी मिलता रहे, साथ ही उसकी अपनी निजी लगन को भी मिलता रहे ।

यह समस्या सचमुच बहुत ही गहरी है । एक तरह वह केन्द्रस्थ और अनंत है । व्यक्ति अपने प्रति सारी ईमानदारी मान ले तो वह लोक-कर्तव्यों से अपने को ऊँचा उठा लेता है । फिर जो करे वही उसके निकट समर्थनीय हो जाता है । अर्थात् वह अपने मन पर चलता है, लोक के मत पर नहीं चलता । ऐसे व्यक्ति के मार्ग में विघ्न-बाधाएँ आएँ और आती जाएँ तो कुछ भी विस्मय नहीं है ।

उधर मन की न माने और घर-कुटुम्ब जाति-समाज के मत के लिये ही जिये तो ऐसे भी समस्या का हल होता दीखता नहीं है। कारण, लोकमत की रक्षा होती है, मन उधर मरता जाता है ।

जान पड़ता है कि मुक्त और पूर्ण पुरुष दोनों ओर से ही बना जा सकता होगा । कम से कम भारतीय संस्कृति ऐसा मानती है । उसके रामचन्द्र मर्यादा पुरुषोत्तम हैं । कृष्णचन्द्र मुक्त आत्म-लीला के पुरुष हैं । रामचन्द्र कर्तव्यनिष्ठ धर्मनिष्ठ हैं । कृष्णचन्द्र का वचन है, 'धर्म छोड़ो, सब धर्म मुझ में देखो' ।

मानना होगा कि अंत में यह आत्मिक और सामाजिक जीवन-विधियाँ एक ही परिपूर्णता पर पहुँचती हैं । लेकिन अन्त में ही पहुँचती है, बीच में तो विषमता बहुत झेलनी पड़ती है और उसमें से नाना विडम्बनाओं को जन्म मिलता है ।

अब महान् तालस्ताय हों कि क्षुद्र हम हों, यह साफ है कि इस जगत् में परस्परता से छुटकारा नहीं है । इस परस्परता के आरम्भ में ही पुरुष के लिये स्त्री और स्त्री के लिये पुरुष उपस्थित हो रहता है । पुरुष अपने में पूर्ण हो सकता तो सृष्टि के विधान में स्त्री की आवश्यकता न थी । ऐसे ही स्त्री अपने में पूर्ण हो पाती तो पुरुष अविद्यमान ही रहता । दोनों यदि हैं और उन्हें परस्परता के बिना चारा नहीं है तो विग्रह कितना भी होता रहे, सन्धि की भूमि अवश्य आवश्यक है । पति-पत्नी सम्बन्ध विग्रह के बीच संधि

के लिये एक स्थायी भूमिका देता है। मैं बिलकुल सम्भव नहीं मानता कि किसी भी पति-पत्नी में विग्रह न हो। रगड़ अवश्यम्भावी है। इसी से विवाह सदा एक परीक्षा है। और परीक्षा वह सच्ची और गहरी तब है, जब विवाह एकदम अटूट बनता है। तलाक का सहारा लेकर जो विवाह तोड़ पाते हैं, वे सच में सफल और सुखी होते हैं, ऐसा तो माना ही नहीं जा सकता। परीक्षा में पड़ते नहीं, उनकी सफलता अप्रमाणित ही रहनेवाली है। अवतारी पुरुष ब्रह्मचारी दीखते नहीं हैं, इसका यही कारण है। परमात्मा उन्हें कसता है अपनी कसौटी पर और स्त्री से और विवाह से बचने नहीं देता है।

जनवरी, १९६०.

आस्था का प्रश्न

वह आस्था नहीं है जिसके साथ सहने से अधिक कुछ किया जाता है । जिसका दावा होता है, उच्चार और प्रचार होता है, घोष और विवाद होता है, वह मतवाद का विषय है । आस्था का उससे सम्बन्ध नहीं है । आस्था क्रॉस है, यज्ञ है । प्रेम के अतिरिक्त उसकी कहीं पूर्त्ति नहीं है . . .

गया में परिसंवाद का विषय था 'साहित्यकार की आस्था' । आस्था का प्रश्न यों भी बार-बार मुझसे पूछा जाता है । साहित्यकार को अलग से मैं जानता नहीं हूँ । उसे ऐसा ही प्राणी मानना चाहिये जैसे दूसरे । इसलिये आस्था का प्रश्न ही मुझे छूता है, साहित्यकार की आस्था का नहीं । जीविका से सम्बन्ध रखनेवाली साहित्य की आस्था कोई भिन्न और विशिष्ट हो तो हो सकती है । उस विशिष्टता की चर्चा में मुझे नहीं पड़ना है । वहाँ क्रैफ्ट, शिल्प, विन्यास आदि भी संगत हो सकते हैं । सचमुच उस परिसंवाद में किसी ओर से यह क्रैफ्ट शब्द भी चला आया था । मैं साहित्य के शिल्प से कोरा हूँ । इस कोरेपन से मेरा कुछ अहित नहीं हुआ है । इससे उस प्रकार की चर्चा में जैसे मैं एक तरफ़ किनारे ही रह गया अपने को अनुभव करता हूँ ।

आस्था को हम जानना चाह सकते हैं । पर प्रेम को तो सब जानते हैं । उस प्रेम का पार किसी ने नहीं पाया । 'ढाई आखर प्रेम' के पढ़कर कोई पंडित अब तक खतम नहीं कर सका । फिर भी अनुभव में सब उसे जानते हैं । प्रेम से सर्वथा रीता कोई हो नहीं सकता । उस रीत गये को ही हम मृत कहते हैं । जिसे जड़ कहते हैं, शायद प्रेम वहाँ भो सोया है । या हो सकता है कि प्रेम उसके अणुओं में

समाया हो, केवल पिण्ड को पता न हो। नहीं तो क्यों लोहा चुम्बक से खिचता है? क्यों धरती सूरज के चारों ओर असंख्य वर्षों से परिक्रमा दे रही है और असंख्य वर्षों तक देती ही जायगी? क्यों चंद्रमा धरती से बिछुड़ नहीं पाता और अपनी कक्षा में उसके चहुं ओर चक्कर में घूमता ही जाता है? यह सब प्रेम की ही महिमा है। अर्थात् ज्ञान में चाहे उसे न जाने, पर अनुभव में उसे जाने बिना कोई रह नहीं सकता।

इस प्रेम के सम्बन्ध में एक और तथ्य भी सब लोग जानते है, वह यह कि वह कहीं एक ठौर टिककर बंध पाता नहीं है। लोग इस तथ्य से नाराज़ होते हैं, उसे बदल देना चाहते हैं। उस पर काबू पाना चाहते है। पर पाते यह अनिवार्य हैं कि वह रुके नहीं, बंधे नहीं, ठहरे नहीं, आगे बढ़ता और फैलता ही चला जाय।

जिसको हम समझना कहते हैं वह क्या है? एक महिला सौ की संख्या को नहीं समझ पाती थी। उसी को जब पाँच बीसी कहा गया तो वह समझ गई। बीस को जानती थी, पाँच को जानती थी, इसलिये पाँच बार बीस-बीस को समझकर वह मानो सौ की संख्या को पा गई। तो आस्था को हम प्रेम की भाषा में उतार कर समझें तो शायद सहज समझ पायेंगे।

प्रेम व्यक्ति या वस्तु से होता है तो पकड़ में आ जाता है। पर इसीलिये यह भी है कि उसका आधार चंचल रहा है। अभी आधार में यह पदार्थ या वह व्यक्ति है तो अभी दूसरा है। अर्थात् प्रेम के लिये व्यष्टि तो उपलक्ष ही है, लक्ष पार है। लक्ष शायद समष्टि-गत है। उपलक्ष उपलब्ध होता रहता है और सदा उल्लंघित भी होता रहता है। प्रेम अमुक में इस क्षण तृप्त होता लगता है तो अगले क्षण अतृप्त हो जाता है। तृप्ति असल में वहाँ उपलक्ष में रखी ही कहाँ है; वह तो उप है, लक्ष थोड़े है। इसलिये प्रेम, जो उपलक्ष ढूँढ़ता नहीं लक्ष की ओर एकाग्र है, सहज अडिग बनता है। उसी को कहिये आस्था।

तो आस्था वह प्रेम है जो व्यक्तिगत नहीं, निर्वैयक्तिक है। जो वस्तुगत नहीं, निर्वास्तविक है। आस्था के लिये आवश्यक है, बल्कि

अनिवार्य है, कि वह निरा अवास्तविक हो। यह मूल की अवास्तविकता ही उस आस्था का बल होती है। अर्थात् उस आस्था का आधार स्वयं बाहर कहीं रहता नहीं। आस्था इस तरह स्वयंप्रतिष्ठ है, वह स्वयंभव भी है। वह की नहीं जा सकती, बनाई नहीं जा सकती। होती है तो उसे फिर सहना और झेलना ही होता है। वह आस्था नहीं है जिसके साथ सहने से अधिक कुछ किया जाता है। जिसका दावा होता है उच्चार और प्रचार होता है, घोष और विवाद होता है, वह मतवाद का विषय है। आस्था का उससे सम्बन्ध नहीं है। आस्था त्रास है, यज्ञ है। प्रेम के अतिरिक्त उसकी कहीं पूर्ति नहीं है जिसको मैं आप पर डाला चाहता हूँ, आपसे मनवा लेना चाहता हूँ, जिसके वृत्त में मैं आपको और औरों को ले आना चाहता हूँ, उसका मेरे अहंकार से संबंध हो सकता है, आस्था से संबंध तनिक नहीं है।

एक विज्ञ बंधु ने वहाँ कहा कि आस्था उनमें है, पर ईश्वर के प्रति नहीं। मैं उनका अभिनन्दन करता हूँ। ईश्वर मेरे लिये भी इस तरह अनावश्यक हो जाय तो उसको मैं भला दिन गिनूँ। लेकिन ईश्वर उसके सिवा है क्या कि जहाँ आस्था है। वस्तुगत जो है वह वास्तविक हो सकता है। स्पष्ट है कि अडिग वह नहीं जो वास्तविक है। तो इस जगत् में सबसे अवास्तविक परमेश्वर है। उसको वस्तुता कोई दार्शनिक अथवा धार्मिक अबतक पहना नहीं पाया है। बहुत गुण, बहुत नाम, बहुत आकार, बहुत रूप उसे पहनाये गये हैं, पर सब वहाँ से खिसक-उतर जाते हैं। इस सार सत्य को अन्त में नास्तिक ही आविष्कृत और उद्घाटित करता है कि परमेश्वर नितांत अवास्तव है। नास्तिक की यही महान् महिमा है कि वह आस्तिक को अपनी आस्था का सच्चा आधार देता है। वह इस बड़ी सचाई क़ो प्रकट करता है कि ईश्वर की और कोई भाषा या वर्त्तमानता नहीं है। आस्था ही में उसकी वर्त्तमानता और वस्तुता है। आस्था हो जहाँ वही ईश्वर।

विज्ञ बंधु अपनी आस्था जहाँ मानते और बताते हैं, अर्थात्

मानव एवं मानवता में उसको और गहरे खखोल कर देखेंगे तो जान पड़ेगा कि उनकी खोज वस्तु से अवस्तु में घुली मिली जा रही हैं। यदि उन्हें अपनी आस्था में, अपनी धारणाओं में, अडिग रहना है तो वह यह अनिवार्य पायेंगे कि उन धारणाओं को जमकर कठिन न बनने दें बल्कि अपनी पीड़ा के साथ उन्हें तत्सम बना लें। तब उनकी आस्था निराकार और निर्गुण होकर यज्ञमय, आनन्दमय, व्यथामय रह जायगी। पीड़ा और आनन्द एक वस्तु हैं। छोर पर व्यथा और आनन्द, दुःख और सुख दो रहते ही नहीं। अनन्य संवेदन मात्र रह जाता है। एक अग्नि, एक ज्वाला, एक प्राण प्राणता।

परमेश्वर सब कुछ है। साथ ही यह-और-वह कुछ भी नहीं है, असल में वस्तुमात्र नाशवान् है। पर नाश कहीं है नहीं, सत् ही है। इसलिये नित्य नाश की लीला के पीछे जो सनातन भाव से है, उस परम-चरम को वस्तु की भाषा में लें तो कैसे लें, दें तो कैसे दें? अन्त में उस भाषा के पास यही कहने को रह जाता है कि वही परम वास्तव है, क्योंकि वही परम अवास्तव है। काल में वह नहीं है, अवकाश में वह नहीं है, क्योंकि ये दोनों आयाम स्वयं उसमें से हैं। आयाम् मात्र वहाँ से आते हैं और वह सब आयामों से अतीत है। इन्द्रियाँ जो पाती हैं सब उसमें से ही पाती हैं। पर विषय अपने में माया हैं, वास्तव वह तब हैं जब अवास्तव से युक्त हैं।

ऊपर की भाषा कुछ अगम लग सकती है। पर आस्था का उद्गम सचमुच ही अगम है। वह ज्ञान में नहीं जिज्ञासा में है, अहंता में नहीं अकिंचनता में है, विज्ञता में नहीं अज्ञता में है। उसमें दृप्त उद्घोष नहीं आता, नम्र प्रार्थना सूझती है। उसमें से वाग्मी तर्क नहीं निकलता, नम्र विवेदन ही प्रस्तुत हो पाता है। उसमें से प्रभुता नहीं सेवा प्राप्त होती है; शासन नहीं, साहित्य प्राप्त होता है; कानून नहीं, कविता की सृष्टि होती है।

इसी से साहित्य किसी धारणात्मक मतवाद के प्रति पक्ष नहीं रख सकता। किसी धर्म पंथ की शरण में नहीं जा सकता। वह

उसका न होकर इसका नहीं हो सकता। भेद सब उसे मान्य हैं, यहाँ तक कि सम्मान्य हैं। कारण, उसकी समग्र आस्था अभेद में है। इस अभेद में जिसकी श्रद्धा पहुँच सके, भेदमात्र के प्रति फिर वह स्वीकार भाव रख सकता है। इसी प्रकार उस बीच के भेद के काँटे निकाल कर वह वहाँ फूल बो सकता है।

जनवरी, १९६०.

धर्म और विज्ञान

खण्ड 4

पाप का सवाल |

स्त्री-पुरुष को और सत्ता-सम्पत्ति को लेकर अक्सर मनों में कामनाएँ उठती हैं, जिनके साथ पाप का बोध चलता है। नैतिक मत-मान्यताएँ उस बोध को उपजाती और तीखा करती हैं। किंतु उसका निपटारा दुर्जन और सज्जन के दो वर्ग खड़ा करने और उनके विग्रह को तीक्ष्ण करने से नहीं होगा। होगा यदि तो इस पद्धति से कि सज्जन अपने अन्दर दुर्जनता टटोल देखें और उधर दुर्जन के अंदर की सज्जनता पहचानें और उसे प्रकट करें।

पाप का सवाल एक बहुत बड़ा सवाल है। पाप समाप्त हो तो धर्म अनावश्यक हो जाता है। परम आस्तिक और परम नास्तिक दर्शन यही करते हैं। आस्तिक कहता है कि तुम कुछ नहीं करते, सब परमेश्वर करता है। जो कुछ करता ही नहीं, कर सकता ही नहीं, वह पाप कैसे करेगा! दूसरी ओर परम नास्तिक दर्शन भी कर्तृत्व को आदमी से अलग कर देता है। जो हो रहा है, और तुम कर रहे हो, वह विकास में अन्तर्भूत ऐतिहासिक शक्तियों से हो रहा है। हर कोई है वह जो परिस्थितियों ने उसे बनाया है, उसका चाहना और करना इस तरह उसका अपना नहीं है। कुछ और कोई परिस्थितियों से स्वतन्त्र नहीं है, सब 'कंडिशन्ड' है। पदार्थ की ओर से यह इतिनिश्चिति का (डिटरमिनिस्ट) दर्शन इस तरह पाप को उड़ा देता है। साध्य में लीन हो तो साधन में पाप-पुण्य का प्रश्न ही नहीं रह जाता। इस तरह आस्तिक और नास्तिक दोनों दर्शन एक ऐसी श्रद्धा दे डालते हैं जिसमें पाप के भय से आदमी ऊँचा हो जाता है। पहला आदमी कहता है कि मैं ब्रह्म हूँ, दूसरा मानता है कि इतिहास में हूँ। ऐसे अकार्य कुछ रहता

नहीं, क्योंकि कार्य ही नहीं रह जाता। बस होनहार होते जाने को रहता है। केवल क्रिया होती है, कर्त्ता और कर्त्तव्य मिट जाता है।

ऊपर की दोनों आस्थाएँ आसानी से नहीं प्राप्त होतीं। बड़े अभ्यास की जरूरत पड़ती है। इसलिए एक सुगम उपाय भी आदमी ने निकाला है। वह उपाय है, नशा। अन्दर की भावनाओं से पक्कापन पाने में जोर पड़ता हो तो शराब जैसी चीजों के सहारे एक नशा आसानी से सिद्ध किया जा सकता है! योगी जन सुल्फा, गांजा और चरस जैसे द्रव्यों की सहायता लेते सुने जाते हैं। भारतीय पद्धतिवाले अमरीकी लेखक आल्डस हक्सले ने एक नई बूटी खोज निकाली है और पुस्तक लिखकर उसका स्तवन किया है। उस बूटी से अध्यात्म-समाधि सहज होती है।…नशों का लाभ यह होता है कि आदमी इधर-उधर का बहुत कुछ नीचे छोड़ देता है और स्वप्न में अपने को पहुँचा लेता है। तब अन्दर कोई खाने और कुतरनेवाली चीज महसूस नहीं होती और जो सामान्यत: सम्भव नहीं है उसी की सामर्थ्य भीतर से निकल आती है।

कहते हैं नशे के सेवन से मिलनेवाला भ्रम थोड़ी देर ठहरता है, अपने अन्दर के जोर से पकाया गया विश्वास देर तक टिकता है। वह जीवन भर काम दे जाता है। इस विश्वास की पद्धति के सहारे जो पाप से उठते हैं, महापुरुष समझे जाते हैं। इतिहास उन्हें याद रखता है। वे रण की ललकार जगाते हों, और लाखों की जान और करोड़ों का माल नष्ट-भ्रष्ट करते हों, तो भी उनकी महापुरुषता में क्षति नहीं आती। कारण, प्रेरणा उन्हें सिद्धांत की होती है। नशा वस्तु से मिलता है, सिद्धाँत से मिला 'इन्सपिरेशन' कहलाता है।

ऐसे उत्तर और उत्तम पुरुषों की बात मैं नहीं करता। पाप के सवाल के लिए वे संगत नहीं हैं। शेर शिकार करता है तो क्या पाप करता है? इसी तरह मानव-जाति के सिंह पुरुषों को विचार से बाहर मानिए। पाप करते भी होंगे तो इतना विशाल, इतना

महान्, इतना चमत्कारी होता है कि उसके आगे माथे को विस्मय में उठाना या स्तुति में झुकाना ही पड़ता है ! पाप की बात सामान्य जन की है।

सच यह है कि सब हम सामान्य हैं। शराब हममें से कोई जरूरत से ज्यादा चढ़ा ले तो वही असामान्य दीख आयेगा। ऐसी असामान्यता जहाँ प्रकट हो वहाँ हम उसे विचार के लिए अनावश्यक कर देते हैं। 'अरे-अरे शराबी है, बेचारे को रहने दो !' असल में इसी भाव से मानवोत्तर और मानवोत्तम को फिलहाल अलग किया जा सकता है। यों पाप के प्रयोग से बरी वे भी नहीं हैं। सिर्फ नशा उन्हें तेज होता है, उसमें अन्दर की कुरेद का पता वे खो रहते हैं।

तो पाप है। इसलिए नहीं कि ईश्वर ने उसकी सृष्टि की है, बल्कि इसलिए कि मनुष्य को उन्नति करनी है। मनुज वर्त्तमान से आगे भविष्य को देखता है, और वर्त्तमान को व्यतीत से जोड़कर देखना चाहता है। यह क्षमता उसमें आकांक्षा और विवेक को पैदा करती है। पशु सिर्फ होता है, चाहना-सोचना उसमें होने से अलग नहीं है। आदमी की चाह असल में होने (प्राप्त) से सदा अनहोने (अप्राप्य) की ओर जाती है। इस तरह प्राप्त और प्राप्य में मनुष्य के भीतर निरंतर ही एक तनाव रहता है। इसी में से कर्म उपजता है और मनुष्य प्रगति करता है। जैसे दाएँ-बाएँ पैर से चला जाता है वैसे ही पाप-पुण्य के विवेक से ऊपर को उठा जाता है। पाप का होना इस दृष्टि से सृष्टि-विधान में गलत नहीं रह जाता, बल्कि बेहद जरूरी हो जाता है। कारण, उसके अभाव में स्थिति से भिन्न हम गति की कल्पना ही नहीं कर सकते। तब सारा पुरुषार्थ गिर जाता है और विकास की क्रिया रुक जाती है।

पाप वह जिसमें हम खिंचते हैं और खिंचना नहीं चाहते। जिसे आधा मन चाहता है, आधा एकदम नहीं चाहता। जो हमें स्वाद में अच्छा लगता है, परिणाम में बुरा लगता है। पाप इस तरह आदमी के अपने अन्दर के द्वन्द्व में बसता है। पशु की पशुता

में पाप नहीं है, पाप मनुष्य की पशुता में है। अर्थात् पशुता को पाप नहीं कहा जा सकता, पाप का प्रवेश तभी होता है जब प्राणी निरा पशु नहीं है, मनुष्य भी है। इस तरह स्पष्ट हो जाता है कि पाप की स्थिति बिना पुण्य के हो नहीं सकती।

पाप का क्या करें? कैसे उसे जीतें? कैसे झेलें और भुगतें? पाप को यों ही तो अपनाया नहीं जाता। जैसे अच्छा काम करने में जोर पड़ता है, वैसे ही बुरा काम करने में जोर पड़ता है, बल्कि ज्यादा जोर पड़ता है। किसने चोरी की है और शुरू में डर नहीं लगा? जार कब कायर नहीं हुआ? पाप और भय का अभिन्न संग है। यानी कभी नहीं हो सकता कि पाप को निर्भय मन से अपनाया जा सके। भय में से पाप की उपज है।

यहाँ आवश्यक है हम समझ लें कि पाप अपराध नहीं है। अपराध समाज से बनता है। सन्त जन अपराधी माने गए हैं और दण्डित हुए हैं। गांधी ने जेल पर जेल पाई, अपराध के कारण ही बार-बार उन्हें कैद में डाला गया होगा। पर इन अपराधों में पाप कहीं था ही नहीं। इस तरह पाप स्वापेक्ष (सब्जेक्टिव) वस्तु है। समाज की ओर से उसका इलाज बन नहीं सकता। चोर को चोरी की सजा में हमने जेल भेजा, पर मन को जेल कहाँ हो पायी? मान लीजिए कि चोरी पकड़ी नहीं जाती, या की नहीं सिर्फ चाही जाती है, तब पाप तो उग गया; पर समाज किसी तरह उसे छू या छेड़ नहीं सकता। इस तरह समाज की ओर से किये गये सब उपाय अपराध तक रह जाते हैं, पाप तक नहीं पहुँच पाते।

पाप के सवाल को जो चीज छू और संभाल सकती है, वह है मनुष्य के भीतर चलनेवाली आन्तरिक क्रिया। सत्-असत् में भेद करनेवाली एक अनिवार्य प्रक्रिया है जिसको मनुष्य के भीतर से लाख प्रयत्न करने पर भी मेटा नहीं जा सकता। उसे विवेक कहते हैं। अक्सर उस विवेक से हम सत् से असत् को टकराने की प्रेरणा लिया करते हैं। यानी माने हुए सत् से अपने में माने हुए असत्

को सीधे-सीधे लड़ाते हैं, पाप की वासना को नीति की धारणा से दबाते हैं। इसको संयम कहा जाता है।

कथाओं-पुराणों में असंख्य उदाहरण हैं, और हम सबके जीवनों में उतने ही असंख्य अनुभव हैं, कि उग्र आग्रह खण्डित होता है। हठ टूटता है और जय उस राह साधना की नहीं पाप की होती देखी जाती है। व्यक्ति करता है वह जो नहीं चाहता है कि करे। बहुतेरा झगड़ता है, पर अन्त में वश ही नहीं चलता। यह आम अनुभव है।

ऐसा क्यों होता है ? व्यक्ति का उत्तम क्यों अपने अधम से हारता है ? क्यों है कि इस द्वन्द्व में सदा व्यक्ति पराभूत हुआ है ? संकल्प क्यों सदा टूटा ही है ? क्यों है कि होनहार कभी भी व्यक्ति के अनुसार नहीं होता है, अपने ही अनुसार होता है ? इसके मूल में जायें तो शायद पता लगेगा कि कुछ है जो हर व्यक्ति और उसके हर संकल्प से अमोघ और अनिवार्य है। उस अमोघ-अनिवार्य का नाम है ईश्वर, वही सत्य। इस स्वीकृति में से प्रार्थना और अकिं-चनता की प्राप्ति होती है। मनुष्य का संकल्प टूटेगा, बिखरेगा, अगर नीचे उसके इस प्रार्थनामय आकिंचन्य का बल न होगा। 'मैं' जीतनेवाला नहीं है, जीतेगा सत्य। इसलिये वह संयम और वह संकल्प जो सारा बल 'मैं' से प्राप्त करता है पाप को जीत नहीं पायेगा। उलटे अन्त में वह पाप की ही विजय का उपादान होगा। अहंकार पाप का निमंत्रण है और स्वयं पाप है। इसलिये उस आधार पर जड़ जमाकर खड़ा होनेवाला मनोबल (विल पावर) और उसमें से निकलनेवाला स्पर्द्धापूर्ण यम-नियम-संयम और तप-त्याग-तपस्या का सिद्धान्त अन्त में अकृतार्थ ही होगा। कारण, यह अहं-पुण्य के जोर से अहं-पाप को जीतने का उपाय है। पर पुण्य-पाप की तो जोड़ी है और अहंता से जुड़ी है। अतः द्वन्द्व का शमन तो सत्य में है। वहाँ पाप के प्रति हठ नहीं करुणा है और पुण्य में आकांक्षा नहीं समता है। सत्य वह जहाँ अविभक्तता है।

स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों में और सत्ता-सम्पत्ति को लेकर अक्सर

मनों में कामनाएँ उठती हैं जिनके साथ पाप का बोध चलता है। नैतिक मत-मान्यताएँ उस बोध को उपजाती और तीखा करती हैं। उसका निपटारा दुर्जन और सज्जन के, 'सु' और 'कु' के, दो वर्ग खड़ा करने और उनके विग्रह को तीक्ष्ण करने से नहीं होगा। होगा यदि तो इस पद्धति से कि सज्जन अपने अन्दर दुर्जनता टटोल देखें और उधर दुर्जन के अन्दर की सज्जनता पहचानें और उसे प्रकट करें।

सितम्बर, १९५९.

धर्म की जरूरत

दायित्व तुम्हारे ऊपर है तो संसार का और उसकी व्यवस्था का उतना नहीं है, जितना कि शुद्ध अन्तःकरण और आचरण का है। नेता सुधारेगा और सुधारता जायेगा। फिक्र करेगा और दुनियाभर की करेगा। व्यवस्था की चिन्ता में लीन रहेगा। कौम के ग़म में डूबा रहेगा। सिर्फ अन्तःकरण के बारे में लापरवाह होगा। क्यों? क्योंकि धर्म व्यर्थ है! अर्थ ही यथार्थ है!

उस रोज नागपुर के लिए दिल्ली स्टेशन पर जनता के स्लीपिंग कोच में अपनी बर्थ ढूँढ़ते हुए हम पहुँचे, तो देखा कि कुछ दूसरे लोग भी वहाँ बैठे हैं। मालूम हुआ कि यही कायदा है, रिजर्वेशन दिन में काम नहीं आता।

दिल्ली से अगला स्टेशन नई दिल्ली है। लोग भूल जाते हैं और दोनों को एक मानते हैं। पर नई दिल्ली एकदम दूसरी है। उसके स्टेशन पर एक प्रतापी (नेता) पुरुष हमारे साथ होनेवाले थे। व्यक्तित्व की अपनी विभुता हुआ करती है। वह पुरुष आये और देखते-देखते हमारी आस-पास की बर्थें खाली हो गयीं! कानून उन्हीं रेलवे अफसर के लिए दिल्ली स्टेशन पर एक था, नंई दिल्ली पर उसमें कुछ दूसरा अर्थ निकल आया। इसी को प्रताप कहते हैं!

ट्रेन चली और बातें भी चलीं। मालूम हुआ कि कांग्रेस की विपत्ति कम लोग जानते हैं। ऊपर से दीखता है कि शासन उसके हाथ में है। पर ऐसे आलोचना शेष सबके हाथों में आ जाती है, कांग्रेस के लिए अभियुक्त की स्थिति रह जाती है। किन्तु लोगों को जानना चाहिए कि इस बीच देश ने क्या और कितना कुछ किया है। अन्तरंग समस्याएँ इधर विकट रहीं, उधर ऊपर से प्रकृति का

प्रकोप। फिर भी एक पर एक संकट कांग्रेस के नेतृत्व में देश ने पार किये हैं। जिस पर निर्माण जो हुआ सो अलग। ध्यान रखने की बात यह है कि हम लोकतंत्र हैं, रूस और चीन की तानाशाही के जोर से काम हम नहीं करेंगे। यह हमारी संस्कृति है। हमारी आन है। हर आदमी को यहाँ स्वतंत्रता होगी। भाषा की और विकास की। राज्य वहीं आयेगा जहाँ स्वतंत्रता का दमन होता होगा। इस अपनी आन के साथ देश को हमें उठाना है।। इसलिए हमारे निर्माण में अगर उतना वेग नहीं है जो रूस-चीन में कहा जाता है, तो हमें इस पर अफसोस नहीं है। बल्कि फख़्र है कि हमारा देश सहयोग से, ख़ुशी से, बिना जोरो-जब्र के कितनी तरक्की कर रहा है। देखिये, यहाँ किसी की मनमानी नहीं चल सकती। संविधान है और सबके लिए अधिकार और कर्तव्य नियत हैं। आप समझते हैं जवाहरलाल जो चाहें कर सकते हैं ? नहीं, नहीं कर सकते। यह हमारा संविधान है, यह लोकतंत्र है। नेता, बड़े से बड़ा नेता, अपने में अधिक नहीं है, सिर्फ नागरिक है। आपका वोट है, इसीलिए कहीं पहुँचता तो पहुँचता है। ठीक काम नहीं करता तो अगली दफे आप अपने वोट से उसे गिरा सकते हैं। आजका राज्य सबका राज्य है। यह हालत इतिहास में, भारत के इतिहास में तो कम-से-कम, पहले कभी नहीं आयी। अशोक हुए होंगे तो वह राजा थे, नागरिक नहीं थे। अच्छे हो गये यह दूसरी बात है, पर बुरे होते तो कोई उन्हें रोक नहीं सकता था। यानी सब उन पर था। आज यहाँ संविधान है। किसी की मरजी पर कुछ मौकूफ नहीं है। सत्ता सबके और एक-एक के हाथों में है। आज जिसको आप उठाते हैं, कल गिरा दे सकते हैं। लेकिन, अफसोस, देशवासियों को अपनी इस आजादी का, अपने और सबके हाथों में आयी हुई इस हुकूमत का, एहसास नहीं है। दिक्कत है तो यह है। इसी से आदमी बहक जाता है और बहका लिया जाता है। कांग्रेस को इसी स्थिति का सामना करना पड़ रहा है। लेकिन भारत की संस्कृति उसके रक्त में है। सलाह-मशवरे से, मिल जुलकर, बहस-

मुबाहसे के रास्ते से उसे काम करना है। हर पार्टी को स्वतंत्रता है। स्वतंत्रता है, हाँ, बहकाने की भी। क्योंकि हम दबाकर काम करना नहीं चाहते। हुकूमत एक बड़ी ताकत है; उस ताकत से कुचल दिया जा सकता है, विरोध को खत्म कर दिया जा सकता है। लेकिन वह हमें नहीं करना है। हमने लोकतंत्र का रास्ता चुना। जान-बूझकर चुना, सोच समझकर, संकल्पपूर्वक चुना। इसी को आप कांग्रेस की कमजोरी मानें तो मानें। लेकिन गांधीजी हमें यही सिखा गये हैं। अहिंसा को नहीं छोड़ना है। मानव प्रकृति पर विश्वास करना है। ला एण्ड आर्डर की रक्षा के सिवा कहीं हम जोर से काम नहीं लेनेवाले हैं···

हम सभी खद्दरवाले थे। अलबत्ता कांग्रेसवाले नहीं थे। तो क्या इसी कारण व्याख्यान के पात्र थे? या असमर्थता ही हमारी पात्रता थी? कारण, असमर्थ हो तभी उसके लिये साहित्य (रचना) की शरण आवश्यक होती है। हीन भाव इसी से साहित्यिक का लक्षण है। राजनीतिक के गुरु-भाव के समक्ष यह हीनता जंचती भी है। मुझे तो यह विषमता सुहावनी तक लगती है!

इससे कहा, "मंत्रियों के और आई. सी. एस. अफसरों के खर्च··· तिसपर सरकार का तन्त्र फैलता जा रहा है। पहले काम इतना ही था, बल्कि देश तब बड़ा था। पर कर्मचारी अब दस गुने हैं!"

"जी हाँ, अब सरकार हकूमत नहीं है, वह लोक-कल्याण है। तब क्या था? अफसर को अपनी हकूमत से मतलब था। अब जनता की सुख-दुख की सारी जिम्मेदारी है। राज्य को अभी तो और फैलना है। आजादी ठीक है। लेकिन उसका मतलब यह तो नहीं कि एक दूसरे का शोषण करे। जमींदारी गयी, रियासतें गयीं और व्यापार-उद्योग पर हमने कर बिठाये हैं। एक स्तर पर तो कर १०७ प्रतिशत तक है। यह सब इसलिए कि समाज में समता आये। अमीर और गरीब में खाई न रहे। लेकिन इससे नहीं चलेगा तो व्यापार में भी राज्य को जाना होगा। बड़े उद्योग तो

राष्ट्रीय हैं ही। पर लोक-राज्य पर लोक-कल्याण का पूरा दायित्व है। ऐसे केन्द्रित के साथ उसे व्यापक भी होना होगा। लोक-कल्याण की सारी ही प्रवृत्तियाँ उसे करनी होंगी। आप लोग राज्य के कारबार को अन्दर आकर देखें, तो कठिनाइयों का पता चले। लीजिये, आप क्या चाहते हैं? चलिये, मैं जिम्मा लेता हूँ, एक नहीं पाँच गाँवों का जुट आपके सुपुर्द हो जायेगा। दिखाइये कि फिर अपने आदर्श का समाज आप वहाँ कैसे निर्माण करते हैं। कुछ सामने किये और दिखाए बिना तो आलोचना वन्ध्या ही कही जायगी ना? . . . ."

हम आलोचक न थे, उससे निरीह थे। फिर भी नेता बन्धु के व्याख्यान से सहारा हुआ। अच्छा समय कटा और यात्रा मालूम नहीं हुई। उनका प्रताप साथ था और रास्तेभर डाइनिंग कार के और रेलवे के दूसरे लोग हम सबकी सुख-सुविधा का पूरा ध्यान रखे रहे। आस-पास बराबर एकान्त रहा और चर्चा-भाषण की सुविधा अखण्ड बनी रही।

मानना होगा कि तर्क उनके पास भरपूर था और उसका उत्तर न था। फिर भी स्थिति में यदि संतोष और चैन नहीं है, तो नेता को या उनके तर्क को दोष कैसे दिया जा सकता है? स्पष्ट ही तर्क तीखा था और माननीय बंधु निस्पृह और तत्पर थे।

फिर भूल कहाँ है? पुरानी कहानी याद आई कि "लेखा ज्यों का त्यों, फिर कुनबा डूबा क्यों"? इस प्रश्न का लाल बुझक्कड़ महाशय अन्त तक कोई उत्तर नहीं पा सके। नदी की चौड़ाई नापी थी, बीच की गहराई नापी थी, और औसत निकालकर गाड़ी को नदी में बढ़ाया था। फिर गाड़ी को डूबना क्यों चाहिये था?

अब भी यदि लाल बुझक्कड़ कुनबे के डूबने पर अफसोस इतना नहीं मानते हैं, जितना अपने हिसाब-किताब के सही होने के बारे में आग्रही हैं तो इसके लिए दोष कैसे दिया जा सकता है!

ठीक इसी जगह मालूम होता है कि धर्म आवश्यक है। धर्म जो सोच-विचार में से आपको अपने को बाद देने की इजाजत नहीं

देता । धर्म जो कहता है कि आप उद्धारक नहीं हो सकते, उपकारक, लोक-कल्याणकारक नहीं हो सकते । जो कहता है कि आप कर्त्ता, हर्त्ता, धर्त्ता नहीं है, क्योंकि ईश्वर भी है । जो कमियों को अकर्म की सीख देता है; जो बताता है कि दायित्व आपके ऊपर है तो संसार का और उसकी व्यवस्था का उतना नहीं है, जितना अपने अन्तःकरण और आचरण का है । नेता सुधारेगा और सुधारता जायगा, फिक्र करेगा और दुनियाभर की करेगा, व्यवस्था की चिन्ता में घुला रहेगा, कौम के गम में डूबा रहेगा । सिर्फ अपने अन्तःकरण के बारे में लापरवाह होगा !

क्यों ? क्योंकि धर्म व्यर्थ है, सेक्युलर ही यथार्थ है !

सितम्बर, १९५९.

धर्म और कर्म

धर्म आवश्यक है, उसी तरह जैसे मकान के लिए नींव आवश्यक होती है। वह न हो तो मकान खड़ा ही नहीं हो सकता। कुछ-कुछ खड़ा कर भी लो तो टिक नहीं सकता। कर्म की सफलता के लिये धर्म की स्थिरता जरूरी है। प्रवृत्ति में दम शायद उतना ही आ सकेगा, जितना भीतर निवृत्ति में बल होगा।

धर्म क्या बतायेगा, लोग यों ही खुली आँखों देखते हैं कि यहाँ का सब यहीं रह जाता है और आदमी चल देता है। शरीर जो पड़ा रह गया है, सो अपने-सगे मरघट में ले जाकर उस शरीर को फूंक-फांक देते हैं। हड्डी तब भी बच-बचा जाती हैं तो नदी में बहा देते हैं। कुछ उसका बाकी नहीं रहने देते।

इसलिए सबके मनों में साफ है कि यहाँ कुछ किसी का नहीं है। दुनिया फानी है, काया आनी-जानी है। मेरा तेरा कित दिन का। आया है तो चंद गिनती के दिन इस सराय में रह लेना है। फिर उठकर आगे की राह पकड़नी हे। अरे भोले, क्या यहाँ माया ममता में फँसता है। अपनी यात्रा की फ़िक्र कर। दो दिन के लिए क्या भूलता है। चौरासी लाख योनियों में से चलकर जो राह पूरी करनी है, उस मंजिल की सोच। असल तू वह मुसाफ़िर है। सराय कौन तुझे ज्यादा रोक लेगी। तू भूले भी तो चलानेवाला तुझे कब भूलता है। इससे छन आयेगा तो तुझे उठकर चल देना ही होगा। पल भर रुकना नहीं हो सकेगा। कितना भी तब चाहे रोये, झींके, वह जो ऊपर बैठा है सो तेरे सफ़र को भूलनेवाला नहीं है। उसके कारकुन महाशय यमदेव हिसाब में पूरे और पक्के हैं। सांस-सांस वह गिनते हैं। जितनी

उनके खाते में लिखी हैं उससे एक सांस अधिक तुझे मिलनी नहीं है। फिर भोले, किस चीज़ को अपनी कहने और बनाने चला है। अरे, चलाचली के मेले में अपनी असल गठरी संभाल, वह जो आगे सफ़र पर काम आयेगी। कहीं ऐसा तो नहीं है कि उस तेरी गठरी को यह रात-दिन के चूहे कुतर-कुतर कर खाली किये डाल रहे हैं। उसे संभाल नादान, छाती पर यह माल दौलत मानकर क्यों कंकड़-पत्थर जमाकर मरा जा रहा है। फेंक इन्हें और अपने धरम का धन संभाल जो काम देगा। उसे लुटाकर क्या बटोरे जा रहा है अभागे कि जो बोझ है और रह जायगा, साथ कन तक न जा सकेगा।

धरम की और मरम की ऊपर की बात एकदम सही है। चाहे रोज़ भूलते हों पर रोज़ याद भी करनी होती हैं। आसपास मौत किस घड़ी नहीं होती और मरघट कब-कब हमें नहीं जाना पड़ता। चार आदमियों के कंधों चढ़कर जब जायेंगे वह दिन देर-सबेर कभी आये—और तब आँखें हमारी मुंदी होंगी—पर क्या आँख खोले आये दिन हमें स्मशान नहीं जाना होता है? कितने भी भूले हों, वहाँ जाकर सब याद आ जाता है। याद आ जाता है कि यह सब भंगुर है और मरघट के किनारे से शुरू होनेवाला जो पार है वही सच है। घर वहीं हैं, यहाँ तो पड़ाव भर है।

ऐसे हम आदमी अनगिनत हैं। हर एक हममें से जानता है, क्योंकि हरएक जीते जी बार-बार, बार-बार, मरघट पर पहुँचकर पहचानता रहता है। पर इस गहरे ज्ञान के बावजूद हम गिनती में बहुत-से हैं और जीते हैं तब तक अलग-अलग कुछ खाते, रखते, जोड़ते और बरतते रहते हैं। मैं जो खाता हूँ, रखता, जोड़ता, बरतता हूँ, वह मुझ तक रह जाता है। मेरे पेट में गया खाना दूसरे की भूख में ज़रा भी नहीं पहुँच पाता। इसलिये जान पड़ता है कि यह गुरु गंभीर ज्ञान मेरी कितनी भी मदद करता हो, मुझे विरागी बनाता हो, उदार बनाता हो, अनासक्त बनाता हो, अपरिग्रही बनाता हो,—पदार्थ की और उसकी व्यवस्था की समस्या को शेष रही

छोड़ जाता है ।

धर्म आवश्यक है । उस तरह आवश्यक जैसे मकान के लिए नींव आवश्यक होती है । वह न हो तो मकान खड़ा ही नहीं हो सकता । कुछ-कुछ खड़ा कर भी लो तो टिक नहीं सकता । पर मकान ऊपर बनता है, नींव नीचे खुदती है । नीचे से नीची नींव खोदकर देंगे, तो मकान उतना ही ऊंचा जा सकेगा । ऊँचे के लिए इस तरह नीचाई जरूरी है । और कर्म की प्रवृत्ति के लिए धर्म की स्थिरता ज़रूरी है । प्रवृत्ति में दम शायद उतना ही आ सकेगा, जितना भीतर निवृत्ति में बल होगा ।

लेकिन गहरी अपनी कुरेद में तो हम जायें, परिणामों का सूक्ष्म विश्लेषण करें, तत्व के पर्त पर पर्त खोलें । पर उन्हें फिर ज्यों का त्यों छोड़ दें और उन बुनियादों पर अपने अमल को खड़ा करें नहीं, तो क्या होगा ?

एक बहुत बड़ी योजना बनी थी । पड़ौस की यह बात है । ज़ोर-शोर से काम शुरू हो गया । हजारों मजदूर लगे और कटाई खुदाई ऐसी हुई कि योजनों तक धरती पर गोरखधंधा-सा बिछकर फैल गया । फिर मालूम नहीं क्या हुआ कि एकाएक काम बन्द । शायद मतभेद हो गया और आपस में मुकदमा चल गया । तभी बरसात का मौसम आ पहुँचा । अब उस जगह की हालत पूछिए नहीं । लोग अपने को खाली करने वहाँ पहुँचने लगे । खाइयों में पानी भर गया जो सड़ने लगा । संड़ाद और बू के मारे वहाँ जाना मुश्किल । नीवें नालियाँ बन आयीं और जहाँ महल होने को था वहाँ नरक हो आया ।

नीची नीवें देना ज़रूरी है । पर अगर ऊपर मकान चिनना न हो तो सतह को ख़ामख़ाह खोदना बेकार ही नहीं, ख़तरनाक है ।

मरघट पर जाइए और वहाँ से ज्ञान लेकर घर पर बस उसी में रमे रह जाइए तो क्या होगा ? आप निकम्मे बन जाइएगा । मरने से पहले मरने लगिएगा । आप कोरमकोर बोझ बन जाइएगा । तब आप ढोर के मानिन्द ढोने और ढोये जाने के लिए रह

जाइएगा।

ज्ञान वह तब कहलायेगा जब आप उस पर कर्म को खड़ा करेंगे। ज्ञान अगर गहरे में और अव्यक्त में जाता है, तो कर्म प्रत्यक्ष पर उठता और व्यक्त को संभालता है। आप ज्ञान से निरहं-कारी बनते हैं, अनासक्त बनते हैं, अपरिग्रही बनते हैं, तो अर्थ है कि आप अहंकार, आसक्ति और परिग्रह के क्षेत्र के लिए समर्थ और अधिकारी बनते हैं। वैराग्य है तो सार्थकता इसमें है कि उसके आधार पर आप समाज में रोगों को नियमन दें। आप जानते हैं कि आपका कुछ नहीं है, तभी संभव है कि बेटों में अगर अपनी-अपनी खींचतान होने लगे तो आप से उन्हें न्याय मिले। क्या किसका है, यह प्रश्न जब उनमें पैदा होता हो तब कौन उसका फैसला करेगा? निश्चय ही ऐसे समय अनासक्त और अपरिग्रही ही स्थिति संभाल सकता है।

और, समाज-विचार के लिए आज यही मूल प्रश्न है कि क्या किसका है? क्या किसका हो?

जाने कितने न वाद हैं। समाजवाद है और उसके जाने कितने प्रकार हैं। केवल समाजवाद, प्रजा समाजवाद, वैज्ञानिक समाजवाद, कांग्रेस समाजवाद इत्यादि-इत्यादि। सब इसी से जूझते हैं कि क्या कितना किसका हो। एक तरफ व्यक्ति है, उसका अंतःकरण और उसकी स्वतन्त्रता है। दूसरी ओर सर्वहारा का वर्ग है, उसकी आवश्यकता है और प्रभुसत्ता है। इनके बीच अधिकार का और स्वत्व का कैसे कहाँ संतुलन किया जाय, यह बहस समाजशास्त्री और समाज-मानी को व्यस्त और मुखर रखती है। इसमें इतना ग्रंथ और बोध छप छपकर बँट और बिखर रहा है कि लोग अघा गये हैं। समाज-तत्वज्ञों का बहस का ठेका है, तो राजनीतिज्ञों के पास दलबन्दी का। हर दल सहमत है कि सब सबका है और कुछ किसी का खास नहीं है। आदर्श समाज के बारे में मतभेद नहीं हैं। राज्य सब कुछ हो, यह माँगनेवाला भी आदर्श में यही देखता है कि राज्य अन्त में अनावश्यक हो जायगा। बस सामयिक तौर

पर जो यह नियत और न्याय करने का अधिकार है कि क्या किसका हो, सभी दल वह अपने लिए हथियाना चाहते हैं। अर्थात् राज्य हमारे दल का ही हो, तब देखिए कि एकदम न्याय का और सुख का राज्य आ जाता है कि नहीं। दलों का सबका यह दावा है।

जीवन और जगत् की समस्या का मुख्य प्रश्न यही है। हर एक को आवश्यकता है, लेकिन पदार्थ परिमित है। इस तरह आवश्यकताएँ टकराती हैं और पदार्थ पर स्वत्व का प्रश्न पैदा होता है। मामले-मुकदमे, लड़ाई-झगड़े, युद्ध और विप्लव होते हैं। इनका अन्त नहीं आता। अन्त इसलिए नहीं आता कि आवश्यकताओं और तृष्णाओं का अंत नहीं है।

इस संघर्ष में से उन्नति हुआ करती है। आदमी काम करता है और मेहनत करता है। आवश्यकता के चाबुक के नीचे वह चलता ही जाता है। आराम में कहीं रुका कि फिर आवश्यकता उसे चलाती है।

पर विस्मय होता है यह देखकर कि संघर्ष के बीच न्याय और निर्णय के लिए ऊपर पद पर आने को आदमी वह आतुर और उत्सुक है, जो स्वयं संघर्ष का भाग है। वह त्याग में नहीं रहता, बल्कि अधिकार हथियाने और सत्ता को शस्त्र की नहीं तो वोट की गिनती के ज़ोर से छीनने की जोड़-तोड़ में रहता है।

और जो मरघट में से, या धर्म-शास्त्र, गुरु, नीति, और आदर्श में से त्याग और अपरिग्रह को अपनाता है, वह ऐसे में क्या करता है ? करता यह है कि अलग खड़ा हो जाता है, कहता है—'ओह, यहाँ क्या किसका है ?' और कहकर मानो कृतार्थ हो लेता है !

अतः क्या किसका हो, इसके निपटारे से धार्मिक जन बाहर रह जाते हैं, संसारी जन ही बस आपस में निबटने को बचे रह जाते हैं। तब आपाधापी या गुटबंदी का समाज-जीवन में मूल्य न बढ़े तो क्या हो। और बड़े राष्ट्रों के पास आपस की लड़ाई के फैसले का उपाय युद्ध ही न बने तो क्या बने ?

यों कहिए कि धार्मिक जन नीवें यहाँ खोदते और उन्हें गहरी से गहरी करते चले जाते हैं, जबकि निर्माण का काम कहीं दूसरी जगह होता और दूसरे लोग करते हैं। वह काम होता रहता और ढहता रहता है, परिणाम नहीं ला पाता। क्योंकि इधर नींव है और चिनाई नहीं है, उधर चिनाई है और नीचे नींव नहीं है। अर्थात् ज्ञान और कर्म अलग-अलग जूझे जाते हैं। ज्ञान इधर निष्फल रहता है, कर्म उधर व्यर्थ चक्र की रचना करता है। कारण, धर्मी को इस लोक से कुछ लेना नहीं है, कर्मी को परलोक को कुछ देना नहीं है।

धर्म सिद्धांत बहुत मूल्यवान और शक्तिशाली हो सकते हैं, अगर आधा चक्कर काटकर वे रुक न जायँ। अपरिग्रह अगर अपने में तुष्ट होकर रुक जाता है तो परिग्रह का दंभ उससे कटता नहीं है, बल्कि ऐसा अपरिग्रह उसमें सहायक हो जाता है। निवृत्ति जब अपने में से प्रवृत्ति नहीं उत्पन्न करती है तो अनायास दुष्प्रवृत्ति के हाथ का साधन बन रहती है। अनासक्त भक्त आसक्त लौकिकों के हाथ के कठमोहरे बन जाते हैं।

धर्म और कर्म के बीच का यह विच्छेद धर्म को निस्तेज और कर्म को प्रमत्त कर रहा है। धर्म शासन नहीं बन पाता और कर्म शासन करता है तो मालूम होता है कि सिद्धांतियों का काम केवल समर्थन ही रह गया है।

इतिहास में एकाध बार ही अवसर आया है कि धर्म-पुरुष कर्म पर भी प्रधान बनकर बैठा हो। अवतारी पुरुष अवश्य हो गये हैं जो राजा और ऋषि दोनों एक साथ रहे हैं। इतिहास में जब यह विस्मय घटित हुआ है, तब से नये युग का सूत्रपात हो गया है। लेकिन वह समन्वय एक में न मिले तो इन दोनों को लेकर एक धुरी का निर्माण हो सकता है। भारत में तो वह परंपरा रही है। हमारे यहाँ पराक्रम के लिए शिवा थे, तो प्रेरणा के लिए रामदास थे। कर्म का नेता सदा से धर्म की प्रेरणा और आशीर्वाद के नीचे काम करता रहा है। और नहीं तो राजा अमुक देव-मूर्ति के प्रति

समर्पित रहा है। उसी के नाम पर निवेदित भाव से उसने शासन चलाया है। भारतीय संस्कृति में केवल शासक कभी विभु नहीं बना है, वह प्रतिनिधि और साधन ही अपने को मानता रहा है।

यह तो नयी ही बात है कि राज्य सर्वोपरि मूल्य हो ठहरा है। नेता के ऊपर कोई न रह जाय तो क्या होगा ? जो ऐसी अवस्था में हो सकता है, वही हो रहा है। पार्लियामेंट और संविधान भाषा में ही ऊपर हैं, यथार्थ में नेता उन्हें अपने नीचे ले लेता है। परन्तु ईश्वर है ही वह जिसे लिया जाय तो ऊपर ही लिया जा सकता है। क्योंकि वह विधान में नहीं, विश्वास में होता है। क्या धर्म में शक्ति होगी कि वह कर्म की अपर्याप्तता को प्रगट करे और स्वयं उस कर्म को संपूर्ण करने का व्रत उठाये ?

अप्रेल, १९६०

धर्म और विज्ञान

गिरने और मरने की आज़ादी देकर शायद ईश्वर ने आदमी को मौका दिया है कि अनुभव से सीखे। यही सीख सच्ची और कायमी रहती है। मैं समझता हूँ कि पाप की यह स्वतंत्रता मनुष्य को भगवान की अनंत कृपा में से मिली है।

उस रोज़ एक माननीय बन्धु चर्चा में अपना दुःख प्रगट कर रहे थे। कह रहे थे कि जाने इस पीढ़ी का क्या हाल है, धर्म की ओर से एकदम ही सबने मुँह फेर लिया है। क्लब जायेंगे, मौज-शौक में वक्त गंवायेंगे, पर मजाल कि सत्संगत की ओर मुड़ें, ध्यान-स्वाध्याय में समय दें। अभी तो जवानी है, पीछे पता चलेगा कि धर्म को खोकर क्या उन्होंने नहीं खो दिया।

फिर एक-एक अपने बच्चे की तफसील दी। बड़ा इन्जीनियर बना है। शादी हो गई है, साढ़े पाँच सौ के करीब महीना पाता है। ऊपर की आमदनी भी होगी। पर घर पर कुछ भेजना क्या, उलटे हर महीने यहीं से और खर्च मंगाता है। दूसरे साहब मेडिकल कर चुके हैं, पर नौकरी हाथ नहीं आयी, और पिछले साल पाँच हज़ार लेकर जो प्रेक्टिस करने मुफस्सल में बैठे हैं तो लगातार दूकान के लिये ऊपर से कुछ मंगाते ही जाते हैं। तीसरे एम. ए. करके आई. ए. एस. की तैयारी में हैं और ठाट से रहना अपना ज़रूरी फर्ज़ मानते हैं। लड़की छोटी है तो किसी से कम नहीं है। एस. ए. प्रीवियस में है, लेकिन पूछिये नहीं···

बन्धु को असन्तोष है। सन्तोष वह धर्म से लेते हैं। अपने जमाने में ठेकेदारी से काफी पैसा कमाया था। अब भाव विरक्त रहता है और सब पीछे छोड़ एक साथ महीने-महीने बाहर कहीं

तीर्थ पर गुज़ार आते हैं।

दुःख उनका निर्वैयकित और सैद्धांतिक विशेष है। कभी थोड़ा विचार अवश्य होता है कि घराने की जायदाद की आय सीमित है, बल्कि घट रही है, और खर्च बराबर बढ़ता ही जाता है। लड़कों के ढ़ंग देखकर निश्चितता मिलने की आशा नहीं है। फिर भी यह विचार उन्हें असुविधा देता है, त्रास नहीं देता। गहरा त्रास जो उन्हें मिलता है सो जमाने के सारे रुख को देखकर, सब एकदम उलटा है। बाहरी माया पर लोभ है, आत्मिक गुणों पर उपेक्षा है। वह अनुभव करते हैं कि कलयुग इसी को कहते हैं। घोरता बढ़ती जायगी और अन्त में इसी तरह प्रलय आ पहुँचेगी। यह विचार उनके मन को बड़ा ही कष्ट देता है, उनकी आस्तिक भावना तक पर दबाव डालता है।

देखता हूँ कि मैं उनको सांत्वना नहीं दे पाता। वह ईश्वर से नाराज हैं, गो अन्त में शरण भी उसी की जाते हैं। आस्तिक के पास, मेरे विचार में, सदा प्रसन्न रहने का उपाय हो जाना चाहिये। पर दुनिया से आँख मोड़कर नाम-जाप में वे आश्वासन पाते हों तो पाते हों, दुनिया पर आँख खोलते ही उनमें दर्द हो आता है। उस दर्द की दवा मेरे पास नहीं है।

कहता हूँ, 'हटाइये भी रायसाहब दुनिया को। जाय जहन्नुम में चाहे तो, आपका क्या अटका है।···पर ईश्वर के इस विधान में भी कुछ सार है। गिरने और मरने की आज़ादी देकर शायद ईश्वर ने आदमी को मौका दिया है कि अनुभव से सीखे। यही सीख सच्ची और कायमी रहती है। मैं समझता हूँ कि पाप की यह स्वतन्त्रता मनुष्य को भगवान की अनन्त कृपा में से मिली है···'

'तो आप भी मानते हैं ना कि दुनिया रसातल को जा रही है।'

मुझे करुणा हुई। वैसे रायसाहब मुझसे कुछ बड़े ही होंगे। दुनिया में ज्यादा कामयाब भी माने जायेंगे। पर उस पर अब उनकी पकड़ ढ़ीली हो गई है, मेरी कुछ वह मजबूत मानते हैं।

कहा, 'लगता तो है।'

'तो क्या किया जाना चाहिये।'

'शायद दुनिया के लिये कुछ नहीं किया जाना चाहिये। अपने-अपने लिये हो तो हो भी सकता है। रायसाहब, आपका उपाय ठीक है--अर्थात् धर्म का ध्यान।'

रायसाहब आते हैं और चले जाते हैं। जानता हूँ कि दुनियां की सारी गति सूरज के चारों ओर है। न इसमें ऊर्ध्व की गुँजायश है, न अधः की। यों पृथ्वी पर छोटी मोटी घटनाएँ होती रहें, वह स्वयं आसपास किसी प्रलय में लीन होनेवाली नहीं हैं। लेकिन रायसाहब को धर्म के ध्यान की जो अन्त में बात कहता हूँ सो एकदम ग़लत नहीं है। धर्म-ध्यान वृथा नहीं है, वह परम विज्ञान भी हो सकता है।

धर्म के क्षेत्रों में अक्सर विलाप सुनता हूँ कि श्रद्धा उठ रही है, भौतिकता और नास्तिकता बढ़ रही है। धर्म की प्रभावना होनी चाहिये, उसके प्रचार लिये यह और वह किया जाना चाहिये। इस शिकायत के विपरीत विज्ञान का अनायास प्रभाव फैलता देखता हूँ। वैज्ञानिक एकांत में विज्ञान की साधना करता है, प्रचार के लिये कुछ नहीं करता। लेकिन लगता है कि जैसे बाकी सारी दुनिया उसकी खोज के आविष्कार को पाने को आतुर है। विज्ञान का अन्वेषित सत्य सहज ही जगत का सत्य बन जाता है। धर्म के सत्य पर प्रवचन होते हैं, शास्त्रार्थ होते हैं, फिर भी लगता है कि वह शास्त्र में रह जाता है, मनों में नहीं लिया जाता।

क्यों ?

मैं आस्तिक हूँ। मानता हूँ कि यहाँ अकारण कुछ नहीं होता। ईश्वर के नियम से बाहर भी कुछ नहीं हो सकता। अर्थात् विज्ञान की यह माँग और उसकी यह शक्ति अकारण और अनिष्ट नहीं है। न धर्म से वह विपरीत है। प्रत्युत् धर्म के कारण है।

धर्म के कारण इसलिये है कि वैज्ञानिक अपनी प्रतिज्ञा के प्रति परायण रहता है। वह सदा श्रद्धा परायण है, उसपर अडिग है।

उसी के मनन में वह अपना जीवन होमता है। उसके इस धमाचरण के परिणामस्वरूप ही विज्ञान में सत्यता की और शक्ति की सृष्टि होती है।

विज्ञान की कक्षा में जाते ही मैंने सीखा कि उसकी मूल श्रद्धा है कि--

१. पदार्थ है।

२. वह अविनाशी है।

विज्ञान, और वैज्ञानिक, अपनी इस श्रद्धा के प्रति सदा प्रवृत्त और परायण रहा। अमुक पदार्थ इस घड़ी दीखता है, अगली घड़ी नहीं दीखता। पर दीखने न दीखने के छल से विज्ञान विचलित नहीं हुआ; उसने श्रद्धा रखी कि दीखता भले न हो, पर है वह किसी न किसी रूप में अवश्य। इस श्रद्धापूर्ण आग्रह और अन्वेषण से विज्ञान ने पा लिया कि सत् है। विज्ञान के सारे अविष्कार इस मूल प्रतिज्ञा पर अटल बने रहने से प्राप्त होते गये कि सत् असत् नहीं हो सकता। विज्ञानी का आचरण इस तरह आरंभ से अन्ततक धर्माचरण है, प्रतिज्ञ और सश्रद्ध आचरण है। इसीसे महान् वैज्ञानिक अनायास सन्त दीखता है। वह शिशु के समान सरल और निष्कपट होता है। सचाई से अतिरिक्त वह कुछ चाहता नहीं, जानता नहीं।

इधर धर्म की प्रतिज्ञा है कि ईश्वर है, वह सर्वत्र है, सार्वकालिक है। लेकिन धार्मिक इस प्रतिज्ञा के प्रति तनिक भी तत्पर नहीं दिखाई देता। उसे झट दीख आता है कि अमुक दुष्ट है, यह कलिकाल है, इत्यादि। दुष्ट में और कलियुग में वह ईश्वर को देखने के प्रयत्न की ही नहीं सोचता। ऐसे धार्मिक का आचरण अपनी मूल आस्था के प्रति अनायास धर्महीन और श्रद्धाहीन हो जाता है। तब उस धर्म में से शक्ति प्रकट हो तो कैसे।

पर धर्म परम-विज्ञान है, यह इस युग में अभी हमने देखा। धर्म का वह महान् वैज्ञानिक था गांधी। उसने इस श्रद्धा को कि ईश्वर ही है एक बार पकड़ा तो अपनी हर सांस में उसे ज्वलंत

रखा। क्षण के लिये भी उस श्रद्धा से वह डिगने को तैयार नहीं हुआ। तत्परायण आचरण की उसने साधना रखी। और आज जगत् साक्षी है कि उससे बड़ा आत्मक्षेत्र का चमत्कार इधर सदियों के इतिहास में दूसरा नहीं प्रकट हुआ। सहस्त्रों एटमबम की शक्ति उसके सामने फीकी है।

गांधी शक्ति का स्रोत बन सका तो क्यों ? केवल इसलिये कि धर्म-श्रद्धा को उसने जीवन में उतारा। यह श्रद्धा कि ईश्वर है, एकमेव वही है और वही परम वास्तव है। इस साक्षात्कार में से गांधी ने मृत्यु को तुच्छ कर दिया और दीन को दिव्य बना दिया।

विज्ञान अनासक्त है वस्तु के प्रति। उसे वस्तु का सार, सत्व, आत्म चाहिये। अतः वैज्ञानिक आसक्त हो भी सकता है स्वयं के प्रति। पर धर्म है अन्तः वाह्य अनासक्ति। वस्तु के प्रति, साथ ही निज के प्रति भी। ऐसे वह परम विज्ञान है।

अब क्या हमारा धार्मिक परम वैज्ञानिक होकर दिखा सकेगा ?

यह हो तो विज्ञान एक क्षण में वरदान बन जाय और शस्त्रास्त्र की विभीषिका में से ही विश्वास की उषा का उदय फूट आए।

दिसम्बर, १९५९.

फिर धर्म और विज्ञान

वस्तु कहीं भी व्यक्ति से स्वतन्त्र नहीं है। वह मानव के उपयोग से जुड़ी है। इस परस्पर-सम्बन्ध के संदर्भ में वस्तु को और मानव को समझना उस वैज्ञानिक के लिए पूरी तरह सम्भव नहीं हो सकेगा, जिसमें तादात्म्य का भाव जाग्रत नहीं है। यह तादात्म्य की साधना धर्म की मूल साधना है। यही अहिंसा का सर्वस्व है।

विज्ञान और धर्म के बारे में कुछ भाई मुझसे खुलासा चाहते हैं। उन्हें देखने में कठिनाई है कि धर्म कैसे परम विज्ञान हो सकता है। धर्म भावनाशील है, विज्ञान उससे मुक्त है। ऐहिक और प्रस्तुत से ही विज्ञान का सम्बन्ध है। धर्म इनको लाँघ कर परलोक और परकाल में अपना ध्यान जमाता है। इस तरह धर्म उनकी निगाह में विज्ञान का राहु हो जाता है। अर्थात् विज्ञान उनकी दृष्टि में जब समर्थता है, तब धर्म असमर्थता।

मैं उन बन्धुओं से सहमत नहीं हो पाता हूँ। पहले तो शायद शब्दों के अर्थ में सहमति न हो। फिर आगे विचार में भी।

विज्ञान अपने से बाहर जाता है। वह पदार्थ-सत्य को लेता है। फिर वापस वह आत्म-सत्य तक नहीं आता। इस तरह उसका सत्य आत्मनिरपेक्ष रहता है। इसका बहुत लाभ है, लेकिन यह यात्रा रहती अपूरी है। यात्रा पूरी तब हो जब परत्व के गर्भ में जाकर फिर वापस वह स्वत्व तक आ सके और इस तरह आत्मत्व को विस्तार दें सके। तब उससे समष्टि मात्र में एक विद्युत्धारा प्रवाहित हो सकती है जो नानात्व में एकत्व का भाव पिरो दे।

इसमें सन्देह नहीं कि सच्चे धर्म का आरम्भ विज्ञानात्मक ही है। मूल में आस्था अवश्य है, पर उसकी प्रगति के चरण बौद्धिक

और वैज्ञानिक हुए बिना नहीं रह सकते। वैज्ञानिक वृत्ति से आरंभ में ही एक बड़ा फल प्राप्त होता है। वह यह कि दिमाग में से एक ही साथ अवगुण सब नष्ट हो जाते हैं; पसंद-नापसन्द की जकड़ टूट जाती है, राग द्वेष के बन्धन से व्यक्ति खुल आता है। इच्छाओं के काँटे की नोंक अन्दर से टूट जाती है। जो सचमुच ही है, आदि है और अन्त है, उसकी खोज जाग जाती है। लालसा तब घेरती नहीं। परिणाम में आतंक और आदर नहीं रह जाता। चीजों को समेटने और बटोरने के लोभ से अनायास छुटकारा मिलता है। वस्तु के प्रति हमसे न्याय होने लगता है। तब सोने को तिजोरी में बन्द करने की बात ही मन में नहीं आती और उसके उपयोग की सामर्थ्य बढ़ जाती है।

विज्ञान वस्तु को रुचि-अरुचि या तुल्य-मूल्य से नहीं पकड़ता। लोहे के प्रति उसमें यह भाव नहीं होता कि वह सोना क्यों नहीं है। पीतल को उस कारण मूल्यहीन समझा जाय और सोने से कम पसन्द किया जाय, यह आवश्यकता विज्ञान को नहीं है। अर्थात् पीतल का पीतल होना उसी तरह गुण है जैसा सोने का सोना होना। यों अवगुण सब कहीं समाप्त हो जाता है। यह गुण है विज्ञान में ज़हर का कि वह ज़हर है। ज़हर की मात्रा अधिक है, उतना ही शुद्ध ज़हर है। अर्थात् विज्ञान के क्षेत्र में अवगुण के लिये कहीं स्थान नहीं है। वहाँ प्रत्येक का प्रत्येक स्वभाव सम्पदा (प्रापर्टी) है।

स्पष्ट है कि विज्ञान की यह वृत्ति समाज-हित में बड़ी इष्ट सिद्ध होती है। विज्ञानी को यदि सोने की आवश्यकता है तो अपने प्रयोग के लिये उसकी वह कम से कम मात्रा चाहेगा। परिमाण उसके लिये सर्वथा अनावश्यक हो जाएगा। ब्रह्मांड को पा जाने की उसे नयी राह मिल जाएगी, अर्थात् वह पिण्ड में से ब्रह्मांड का सत्य ढूँढ़ लेगा। राग-द्वेष छीन-झपट उसे वृथा और निःसार जान पड़ेंगे। अधिकाधिक को वह कम-से-कम में पाने का सार पा जाएगा। अणु के सत्य को पाने के साथ ही यह घटित हुआ न कि

चाँद तक हम पहुँच गये, सूरज तक भी जा पहुँचे ! विस्तार को लाँघ आने की यह सामर्थ्य किसी बाहरी महत्वाकाँक्षा में से विज्ञान को नहीं प्राप्त हुई। वह तो ध्यान को परिणाम और विस्तार से हटाकर सर्वथा एकाग्र अणुसत्य में केन्द्रित रखने से प्राप्त होती गयी है।

मानना होगा कि धर्म के नाम पर चलनेवाली अधिकाँश प्रवृत्तियों में यह निरपेक्षता नहीं है। उन्हें बहुत कुछ इस दुनिया का चाहिए। धन चाहिए, बल चाहिए, पूजा-प्रभुता चाहिए, मान-प्रतिष्ठा चाहिए। शंकराचार्य और विनोबा जैसे कुछ सन्तों की बात छोड़िए। उन्होंने तो पैदल भारत छान मारा, पर कुछ उसका पास न लिया। विस्तार में उन्हें आकाँक्षा थी ही नहीं। उनका मन सत्य में था, इससे विस्तार उन्हें शून्यवत् था। हज़ारों-हज़ार मील फैलाव उनके मन में शीघ्रता या लालसा का भाव नहीं लाता था। उन्हें जल्दी नहीं थी क्योंकि आकांक्षा नहीं थी, जैसी विजेता सम्राट में होती है। लेकिन धर्म में वैसी लोकाकाँक्षा का आज अभाव नहीं देखा जाता। विज्ञान में जो एक शान्त और सन्तुष्ट सांसारिक उदासीनता है, वह धर्म में नहीं है। इतना ही नहीं, बल्कि वहाँ संसार-लोलुपता दबी और ढकी होने से कुछ अधिक ही तीखी और गंधीली है।

वह सब आडम्बर धर्म नहीं, यह कहने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। मूल में वह आस्था है। क्रिया-काँड का सम्बन्ध संस्था से है, आस्था से नहीं। आस्था यदि भीतर सजीव हो तो संस्था भी समर्थनीय हो जाती है। पर आस्थाहीन संस्था के उदाहरण से स्वयं धर्म के प्रति अवज्ञा मन में लाना भूल भरा होगा।

हम देखते हैं कि वस्तु-विज्ञान काफी नहीं है। निरा वैसा वैज्ञानिक आज असहाय भी है। वैज्ञानिक को वेतन कौन देता है, काम कौन देता है, काम के लिये सुविधा कौन देता है ? क्या कारण है कि वैज्ञानिक अणु-शस्त्र नहीं चाहते, उनका उपयोग नहीं चाहते, फिर भी वे सभी उन अस्त्रों के निर्माण में योग दे रहे हैं ? यहाँ उस

वैज्ञानिक की असमर्थता और निरीहता प्रकट हो आती है। बेचारा लाचार है कि अपने काम के लिये वह ऊपर अपनी सरकारों की ओर देखे, सरकार जैसा करने को कहे वैसा करे। वह वैज्ञानिक अपने पास सत्य का सार रखते हुए भी क्यों इतना दीन और दुर्बल रह जाता है ? क्यों वह चाँद तक यान भेजने का मंत्र सिद्ध करके भी इतना नगण्य है कि अपने लिए आवश्यक धन-जन नहीं जुटा सकता ? उसे पराश्रित और राज्याश्रित क्यों रहते जाना पड़ता है ?

उत्तर यही हो सकता है कि उसके पास का वस्तु-सत्य शायद अधूरा था, परिपूर्ण सत्य न था।

इस तरह वस्तु-विज्ञान की पूर्त्ति के लिये एक दूसरे विज्ञान की भी आवश्यकता है। वह है जीवन-विज्ञान। उसी को कहें ब्रह्मज्ञान।

इस जीवन-विज्ञान या जीवन-धर्म की साधना, कहना होगा कि, राजनेता जिस सफलतापूर्वक कर पाता है, उतना धर्म का नेता नहीं। राजनेता पोथी-पत्रा पढ़ा नहीं होता, शास्त्र-सिद्धान्त नहीं जानता। जीवन ग्रन्थ के अभ्यास में से ही वह अपना योग साधता है। भगवद्गीता में योग को कर्म का कौशल कहा है। उस कर्म-कौशल की कसौटी पर योगी आज किसे माना जा सकेगा ? दूसरे योगियों के लिये तो विशेषण लगाना जरूरी होता है, जैसे हठयोगी, ध्यानयोगी, आसनयोगी इत्यादि। निरा योगी तो मानना होगा उसको जो जगज्जीवन में केवल लोकमत के आधार पर विभुता प्राप्त कर आता है।

तो जीवन-विज्ञान के साथ जीवन-कला का योग हो तब उसे धर्म कहना चाहिए। सिद्धान्त उसका व्यवहार से भिन्न नहीं होता। न ज्ञान आस्था से भिन्न होता है। यह दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य की सम्यक एकता मोक्ष देनेवाली कही गयी है।

वस्तु-विज्ञान और आत्म-विज्ञान परस्पर विमुख नहीं हैं, बल्कि पूरक होने चाहिए। वस्तु और व्यक्ति के प्रति पूरा न्याय करने की

क्षमता सही तौर पर उसी में आ सकेगी जो आत्मविज्ञानी भी होगा। वस्तु कहीं भी व्यक्ति से स्वतन्त्र नहीं है। वह मानव के उपयोग से जुड़ी है। इस परस्पर-सम्बन्ध के सन्दर्भ में वस्तु को और मानव को समझना उस वैज्ञानिक के लिये पूरी तरह सम्भव नहीं हो सकेगा, जिसमें तादात्म्य का भाव जाग्रत नहीं है। यह तादात्म्य की साधना धर्म की मूल साधना है। यही अहिंसा का सर्वस्व है।

धर्म का यह रूप प्रकट हो तो मालूम हो कि वह कोरा तत्वज्ञान ही नहीं है, बल्कि शासन-स्वरूप भी है। उत्तरोत्तर राज्य-शासन को आत्मानुशासन का रूप लेते जाना है। शासन-मुक्त समाज का आशय यही आत्मानुशासित समाज हो सकता है। वह इष्ट केवल पदार्थ-विज्ञानियों के बल पर आ जानेवाला नहीं है। वह लक्ष्य प्राप्त होगा तब जब मन को और धन को, काम को और अर्थ को मानव-सम्बन्धों के सन्दर्भ में वैज्ञानिक निष्पक्षता से देखा और समझा जा सकेगा। यह सम्भव बनेगा उस व्यक्ति के द्वारा जो चराचर जगत् को आत्मवत् मानेगा। ऐसे व्यक्ति के लिये परमेश्वर और पंचभूत दो तत्व नहीं रह जाएँगे। समस्त सृष्टि में वह अपने स्रष्टा की लीला को देख और पहचान सकेगा और तद्रूप आचरण करेगा।

परम विज्ञानमय यह धर्म बौद्धिकता को संपूर्ति देनेवाला होगा। उसके स्पर्श से इधर आधुनिक विज्ञान की जीवन-सम्बन्धी असमर्थता दूर होगी, उधर राजनेता की अहम्मन्यता को भी संस्कार मिलेगा!

फरवरी, १९६०.

धर्म को चुनौती |

क्यों है कि धर्म सम्प्रदाय रचता और उसी में घिरा रहता है ? क्यों वह दलदल में दीखता है और उससे उबर नहीं पाता ? क्यों है कि वह राजनीति का बस दास है और उसको दिशा नहीं दे सकता ?···कारण इसके सिवा क्या हो सकता है कि बाहर की ओर से बचने के लिये लोग धर्म में शरण लेते हैं और वहाँ अपनी निर्बलता को पोषण देते रहने में रस लेते हैं।

एक जैन पत्रिका में समाचार है–

श्रीमती··का २५ तारीख को संथारा सिद्ध हुआ··इस समय आपकी साठ साल की उम्र थी। पिछले चालीस वर्षों से आपने १२ व्रतों को धारण कर रखा था एवं नौ वर्षों से अणुव्रती थीं···! आपने लगभग तीन हजार उपवास किये थे तथा अन्य फुटकर तपस्याएँ भी की थीं। बेला ५५, तेला १५, चौला ४५, पचौदा ४०, छह दिनों की २०, ७।२५, ८।४, ९।१६, १०।२, ११।२, १२।८, १३।१, १४।१, १५।१, १६।१।

समाचार पढ़ने के अगले रोज सद्भाग्य से उस पंथ के एक जैन मुनि पधारे। मैंने पूछा 'मृत्यु को सिर पर ही उतर आई देख जो अनशनपूर्वक देह त्याग है उसी को संथारा कहते हैं ना ?

बोले, हाँ ! लेकिन मृत्यु का एकदम सामने आ रहना ज़रूरी नहीं है। कभी ऐसा भी होता है कि वैराग्य की दृढ़ता में ऐसा निश्चय कर लिया जाता है । अभी की बात है कि एक संत ने संथारे का आरम्भ किया है। चालीस वर्ष पहले उन्होंने निश्चय किया था कि साठ वर्ष से आगे उन्हें अपनी आयु नहीं रखनी है । साठ वर्ष पूरे होने आ गये हैं, इसलिए अब क्रमशः अनशनपूर्वक वह

देह त्याग देंगे।

मैं सुनता रहा और सोच में रहा।

पत्रिका के उसी पृष्ठ पर तपस्याओं के और अनेक समाचार थे। ऊपर के उदाहरण में स्वर्गवासिनी महिला ने तीन हज़ार व्रत रखे। यूँ कहिये लगभग नौ वर्ष वह निराहार रहीं। उनकी तपस्याओं का हिसाब ऊपर दिया ही गया है।

यह सब धर्म है। इसका प्रचार होता है। प्रशंसा होती है। वातावरण ऐसा बनता है जैसे यह मोक्ष की साधना है। देह की विजय है, इन्द्रियों पर जय है।

हम संसारी लोग जो नित्य दो से अधिक बार खाते हैं इन अनशनों की तालिका पर विस्मित और विमुग्ध रह जाते हैं। जीवन का हमें तो कितना मोह है, उसी जीवन के प्रति संथारा के इन उदाहरणों में कितनी उदासीनता और उपेक्षा दीखती है, स्वाभाविक है कि हम उन पर दंग रह जायँ।

पहले सती प्रथा थी। अब भी उस 'सती' के प्रति लोगों में गहरी भक्ति-भावना है। सती का समाचार यदाकदा पत्रों में अब तक पढ़ने को मिल जाता है। सती का मन में ऊँचा आसन है, लेकिन लोकमत आज उसे ग्राह्य नहीं मानता है। सब मानते हैं कि वह कुप्रथा थी।

'सती' यदि सर्वथा स्वेच्छा से हो तो भी जान पड़ता है कि आज प्रबुद्ध लोकमत उसे स्वीकार नहीं करेगा।

निश्चय ही हम उस लोकमत को प्रबुद्ध कहते हैं जो सती के देह-त्याग पर मुग्ध और प्रसन्न होने का कारण नहीं देखता। और मैं अपनी ओर से उस लोकमत को प्रबुद्ध मानूंगा जो इन संथारों के उदाहरणों पर भाव-विभोर नहीं हो रहता है, बल्कि समीक्षा की दृष्टि से विचार करने को तैयार है; उसे इसमें प्रसन्नता का कोई कारण नहीं है।

भारत देश धर्मप्राण है। मैं इसको बहुत बड़ी बात मानता हूँ। यह घटना इस देश को दुनिया का सिरमौर भी बना सकती है।

लेकिन आज भारत पिछड़ा हुआ है। आगे बढ़ रहा है तो धर्म-निरपेक्ष पद्धति से। धार्मिक भारत आज के दिन किसी के लिये भी विचारणीय नहीं है। इसका कारण मेरे निकट सिर्फ यह है कि धर्म यहाँ ज्वलंत और सामाजिक नहीं है, उसको जड़ और असामाजिक बना डाला गया है। ऐसे वह सज्जनों, सन्तों और मुनियों के नमूने पैदा करने में समर्थ हो जाता है, लेकिन देश और समाज में जान नहीं डाल पाता। क्यों है कि धर्म संप्रदाय रचता और उसी में घिरा रहता है? क्यों वह दलदल में दीखता है और उससे उबर नहीं पाता? क्यों है कि वह राजनीत का दास है और उसको दिशा नहीं दे सकता? क्यों वह धर्म जो मनुष्य को परिपूर्णता देता बताया जाता है इतना असमर्थ और क्लीव है कि आश्वासन नहीं दे पाता? कारण इसके सिवा क्या हो सकता है कि वह मानव-सम्बन्धों में व्याप्त होने से घबराकर और कतराकर स्व के और स्वकीय के चक्कर में घूमता रह जाता है। इस तरह निर्माण की शक्ति उसमें से नष्ट हो रहती है, और शनैः शनैः उसे व्यसन का स्वरूप मिलने लगता है। बाहर की ओर से बचने के लिये लोग धर्म में शरण लेते हैं और वहाँ अपनी निर्बलता को पोषण देते रहने में रस लेते हैं।

बहुत जरूरी है कि धर्म का बल प्रकट हो। धर्म से निरपेक्ष होकर जगत जो धड़ाधड़ उन्नति करता जा रहा है उससे संकट टलता नहीं दीखता, बल्कि कुछ बढ़ ही रहा है। मानव-जाति की तीन-चौथाई के लगभग शक्ति ऐसे उत्पादन में लगी हुई है जो भय उपजाने या उससे बचाव साधने के लिये है। उन्नति जो भय पैदा करती है और उसी को संगठित करती है अन्त में हमें कहाँ ले जायगी? शान्ति और सुख की ओर वह हमें कभी नहीं ले जा सकती। धर्म की इसी के लिये जरूरत है कि वह उन्नति की बागडोर को अपने हाथ में ले और विनाशकारी की जगह निर्माणकारी क्षमता उसे दे। क्या भारत का अध्यात्मवादी कहा जानेवाला धर्म यह कर रहा है या कर सकता है?

धर्म जबतक अपनी मूढ़तायें पैदा करके वहीं रस लेता चकराता रहेगा तबतक वह राजनीतिकों के हाथ का खिलौना रहेगा। उसमें शक्ति नहीं होगी कि जीवन को शासन दे। शासन जिन तत्वों के हाथ रहेगा वह धर्म से स्वतन्त्र होंगे। परिणाम यह कि धर्म स्वयं अधीन बनेगा, वह मोक्षदाता का होने के बजाय दीनता और अधीनता का सूचक होगा।

बूँद को अलग कीजिये समुद्र से, सिवा इसके क्या होनेवाला है कि बूँद सूख जाय। धर्म अगर व्यक्ति को समाज से अलग कर लेता है तो भाग्य इसके सिवा दूसरा न हो सकेगा। कायक्लेश की उग्रता को जब तपस्या और साधना माना जाता है तो उसके नीचे धारणा यही है कि व्यक्ति स्वयं अपना है; वह अपने को सुखा सकता है, गला सकता है, मार सकता है; वह स्वयं में अपने को मुक्त कर सकता है। शेष अन्य पर है, वह स्वयं स्वयं है। यह ऐकान्तिक धारणा व्यक्ति को अपने सन्दर्भ से तोड़ देती है। तब वह अनोखा और निराला बन सकता है, लेकिन भीतर संवेदन के तन्तु उसमें जड़ पड़ चुके होते हैं और उसे सहारा केवल अपने आग्रह और हठ का रह जाता है। उसकी ग्रहणशीलता ठिठुर जाती है और वह अपने को ही चूसता हुआ बीतता जाता है। पंथ और संप्रदाय जो अपने में ही लिप्त और लुप्त रहते हैं सो यही प्रमाणित करते हैं।

देह मेरी है, इसका मैं जो चाहे करूँ--यह जड़ धारणा है। यह जीर्ण हो चुकी है। अपरिग्रह का धर्म लोगों के मनों में घर करता जा रहा है और यह बात समझ में उतरती जा रही है कि जैसे सम्पत्ति मेरी नहीं है वैसे शरीर भी सर्वथा मेरा नहीं है। धन-सम्पदा जैसे औरों के और सबके लिये है वैसे मनुष्य की शरीर-सम्पदा भी औरों के और सबके लिये है। इसलिये शरीर से जिसको सचमुच अनासक्ति और निर्मोह सिद्ध हो सका है उसका लक्षण तो यह रह जाना चाहिये कि शरीर उसका सर्वथा स्वस्थ, तत्पर और सेवा रत रहे। व्रत, उपवास इसी की सामर्थ्य दें तो सार्थक बनते हैं अन्यथा उनमें अहं-सेवन भी रह सकता है।

इतने अपघात होते हैं–क्या यह माना जा सकता है कि आत्म-घातियों को जीवन का निर्मोह प्राप्त हुआ है ? स्पष्ट है कि निर्मोह नहीं, गहरा और घना मोह है जिसमें अपघात संभव होता है । तपश्चर्या कठोर से कठोर दीख सकती है जिसके मूल में स्वराग हो। वह अध्यात्म जो परिधि के रूप में स्व को ग्रहण करता है और शेष से अपने को छिन्न मान लेता है खतरनाक हो सकता है।

कायिक तपश्चर्या के लिये जैनी जन विख्यात हैं । मैं स्वयं जैन हूँ। लेकिन मुक्ति की ओर संसारी यात्रा की प्रगति के निर्देश के लिये जो चौदह गुण स्थान बनाये गये हैं मुझे उनकी याद आती है। चौदहवाँ स्वयं मोक्ष है; परन्तु उससे पहले जो ग्यारवाँ गुण स्थान है अहं-मूढ़ तपस्या व्यक्ति को वहाँ तक ले जा सकती है । इसका आशय यही है कि व्यक्ति केवल अपने में चढ़ कर गिरता और डूबता ही है; वह अपने को मुक्त औरों में और सबमें, अर्थात् निखिल में, ही कर सकता है । अन्यथा कोई और कहीं मुक्ति नहीं है।

भाषा भिन्न हो सकती है, धर्म एक और अखण्ड है । जैन, वैष्णव, शैव, बौद्ध, मुस्लिम, ख्रिस्त आदि विशेषणों से उसमें अन्तर नहीं आ सकता। हर भाषा से प्राप्त जो करना है, जीवन का वह साध्य शब्द के हेर-फेर से बदल नहीं जाता।

अतः धर्मज्ञों, धर्म-व्यवस्थापकों और धर्माचारियों के लिये, फिर चाहे वे किसी मत-संप्रदाय के हों, यह चुनौती रह जाती है कि जिसको वे सृष्टि को धारण करनेवाला सत्-धर्म मानते हैं, वह प्रबल होकर जगत और जीवन की बागडोर को अपने हाथ में संभाले । छोटे-छोटे सन्तोष जो प्रचलित धर्म अपने को देते रहते और इस तरह स्वयं में मग्न और मत्त बने रहते हैं, उससे आज काम नहीं चलने वाला है । विज्ञान बहुत बढ़ गया है । यदि क्षमता हो तो धर्म को भी उतना बढ़कर दिखाना होगा। दिखाना होगा कि विज्ञान की शक्तियों का सत्उपयोग ही होगा, विनाशक उपयोग हो नहीं सकेगा। यदि चैतन्य का प्रकाश धर्म से दीप्त होनेवाला हो तो

अनिवार्य है कि चेतना को मन्द और निश्चेष्ट करनेवाली प्रवृत्तियाँ धर्म के नाम पर प्रतिष्ठित न हों और उनको बड़ाई न मिले।

मार्च, १९६०.

सपना

"धर्म और क्या है ? यह अवतार और पैगम्बर और मसीह क्या हैं ? व्यर्थताएँ हैं जिनको अपने बीच हमने खड़ा कर लिया है कि कुछ उनके सहारे प्रभु बनें, दूसरे दास बने रहें।"

—एक पात्र

रात दो का समय होगा। कहीं एक बजे वह सो पाये थे। नींद उन्हें आती कब है। काम उन्हें इतना रहता है, इतना, इतना, इतना कि क्या कहिए। सहारा एक ही है, कि अन्तःकरण पर वह बोझ नहीं लेते हैं। असल में वह उसे मानते ही नहीं हैं। आत्मा और कांशेंस आदि वहम ही हैं। हृदय है तो वह शरीर में अपना काम करता है। हाथ-पैर हैं, जिगर है, वैसे ही हृदय है। इसके आगे जो जाते हैं वे शोषक बने रहने के लिये समाज को अफीम के घूँट देते हैं। धर्म और क्या है ? यह अवतार और पैगम्बर और मसीह क्या हैं ? व्यर्थताएँ हैं जिनको अपने बीच हमने खड़ा कर लिया है कि कुछ उनके सहारे प्रभु बनें, दूसरे दास बने रहें।

काम उन पर सब दायित्व का है और लोकहित का है। इसलिये गहरी सुरक्षा में उन्हें रहना पड़ता है। फिर सब चौकियों और पहरों को पार कर यह कौन चले आ रहे हैं !

अधिपति ने कहा, "कहिए ?"

"सुनता हूँ आपने मुझे याद किया था।"

"आप कौन हैं ?"

"मैं हूँ ही नहीं।"

"आप जानते हैं मेरे पास समय नहीं रहता। पहेलियाँ न कहिए, अपना आशय कहिए।"

"मैं हूँ नहीं, तभी न आपने मुझे याद किया है। मैं यही कहने आया था कि आपको मेरे सम्बन्ध में किसी चिन्ता का कारण नहीं है। क्योंकि आप जानते हैं मैं नहीं था, नहीं हूँ। आपने कहा, आपको समय नहीं रहता है। इसीलिये और भी आवश्यक है कि आप समय बचायें और मुझ पर वृथा एक क्षण भी न खोएँ।"

"तुम हो कौन ?"

"ईसा हूँ, जो नहीं था और नहीं है।"

"ईसा ! क्या मतलब ! ईसा मसीह ?"

"लोग कहते होंगे। पर मैं था नहीं, हूँ नहीं। आप आराम से सोइए।"

"ठहरो, मेरी नींद में खलल डालने तुम कैसे आये ?"

"मैं नहीं आया हूँ। आप सो ही रहे हैं। खलल नींद में न पड़े, इसलिये कहने आया हूँ कि मैं आदि से नहीं था, नहीं हूँ। और क्या नींद में, क्या जाग में, आपको मेरे सम्बन्ध में सोचना भी नहीं चाहिए।"

"अँह, कौन सोचता है !"

"आप सोचते हैं जब इन्कार करते हैं।"

"हां, मैं इन्कार करता हूँ। तुम मिथ हो। तुम कुछ नहीं हो। तुम घड़ंत हो, आडम्बर हो। तुम मिथ्या हो। तुम हो जिसने मानवता को दास बनाये रखा है। अच्छा है कि तुम सामने आ गये, मैं चाहता था कि तुम्हें बताऊँ कि किस तरह मैं तुम्हें नहीं मानता हूँ और तुम्हारी जड़ों को उखाड़ फेंक कर रहूँगा।"

"आप अपने आवेश से मुझे हठात् जिलाए दे रहे हैं। मैं आपको कष्ट से बचाना चाहता हूँ। मैं एकदम हूँ ही नहीं। जड़ें जिसकी उखाड़िएगा, उसकी पहले जड़ें जमाना आपको आवश्यक हो जाएगा। कृपया निश्चिन्त रहिए। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि मैं सर्वथा नहीं हूँ। नींद में आप याद करते हैं, जाग में याद करते हैं। याद इन्कार करने के नाम पर करते हो, लेकिन उतने से भी मुझे होना पड़ता है। इसमें मुझे कष्ट होता है। मालूम है कहाँ

से मुझे आप तक आना पड़ा है ? यह जितना तुम्हारा ब्रह्माण्ड है, सत् है। उसके भी पार एकदम असत् लोक से मुझे सहसा होकर आना पड़ता है। तुम्हारे इन्कार में कितनी शक्ति है, यह तुम्हें जानना चाहिए। उसी के कारण मुझे हो जाना पड़ता है। इससे तुम्हारी नींद तक में बाधा पड़ती होगी। ओह, मैं नहीं हूँ, बाधा एकदम नहीं बन सकता हूँ। सुनो, आराम से सोओ, आराम से जियो। तुम जानते हो आत्मा नहीं है, कोन्शन्स नहीं है; मानवता की आत्मा माने गये वे जीव भी नहीं हैं। मिथ बनाकर जिन्होंने रखा उन्होंने रखा हो, पर तुम जानते हो कि मिथ तक बनाने की तुम्हें आवश्यकता नहीं है। फिर, वत्स, तुम क्यों चिन्ता करते हो। कर्म करते जाओ यही चाहते हो न ? निरद्वंद्व बने रहो, यही चाहते हो न ? तब द्वंद्व क्षण भर को न लाओ कि मैं था या नहीं था, हूँ या नहीं हूँ। तुम हो, क्या तुम्हारे लिये यह काफी नहीं है ? वत्स, मैं कहने के लिये आया हूँ कि तुम और भी पक्के हो जाओ कि तुम्हीं हो, तुम्हारे सामने किसी की भी और हस्ती नहीं है।

"ठहरो, ठहरो। तुम ईसा हो, यही न ? लेकिन वह तो नम्र था, बेचारा था। तुम कौन हो कि ऐसी प्रभुता से बोलते हो। जानते नहीं मुझे ? मैं—"

"देखो-देखो, कोई वह न था जो नम्र था। न है अब जो तुम पर प्रभु हो सकता है। आराम करो। सवेरे से तुम्हें काम पर होना है। मैं हूँ नहीं, और अब हूँ तो सपने से भी कम हूँ। मानो, तुम सपना देख रहे हो। सपने के साथ मैं उड़ जाऊँगा। बस तुम सोच में न पड़े रहो। मुझ में जड़ नहीं हैं, मुझ में प्रभुता नहीं है। सत्यता ही नहीं है। लो, मैं चला। और सुनो, सपने बच्चे देखते और सच मानते हैं। तुम समर्थ हो, तुम बच्चे नहीं हो। तुम पर जगत् का बोझ है। तुम सर्व-सम्मति से चुने गए अधिपति हो। सब तुम्हारी तरफ देखते हैं। काम सब तुमसे चलता है। जानता हूँ चर्च कुछ थोड़े जहाँ-तहाँ बचे हुए हैं, पर अपनी प्रतिभा में विश्वास रखो। वहम का सहारा कब तक लोग रख पाएंगे ! तुमसे उन्हें विज्ञान

मिलेगा और बुद्धि मिलेगी और प्रकाश मिलेगा। तुमसे उन्हें व्यवस्था मिलेगी और सब चीजों की इफरात मिलेगी। थोड़ा अफसोस यही है कि तुम कभी-कभी दुर्बल हो जाते हो और जो नहीं है उसी को अपने मुँह के शब्द में लाकर जैसे वास्तविकता दे दिया करते हो। अपने निराकार, निर्गुण, निर्व्यक्त और निश्शेष देश में जब यह सूचना पहुँची कि तुम तक में यह दुर्बलता है तो मुझे रूप लेकर आना पड़ा। तुम जानते हो कि इतिहास तुम्हारे वश से बाहर की चीज नहीं है। मैं चाहता हूँ कि कुछ भी तुम्हारे वश से बाहर न रहे। मेरी याद जब तुम करते हो तो इस तुम्हारी त्रुटि पर मुझे प्रसन्नता नहीं होती। जानते हो सपना आदमी को क्यों आता है? इसलिये कि वह बँटा होता है, और इसलिये कि भीतर से चाहता है उसी को ऊपर से नहीं भी चाहता। इस द्वंद्व से तुमने संकल्प किया था कि तुम ऊँचे उठोगे। मनुष्य पैदा हुए हो, मशीन बनकर दिखा सकोगे। अपने को अपने से भरपूर भर लोगे। मुझ जैसी व्यर्थताओं और निस्सारताओं से उत्तीर्ण रहोगे। फिर, बच्चे, यह तुम में क्या देखता हूँ कि नींद में तुम करवट लेते हुए बेचैन हो आते हो!"

"निकल जाओ यहाँ से जो भी हो। दया का दंभ करते हो!"

"यह ठीक है। लेकिन नींद में मग्न हो जाओगे तो मैं तो निकला ही हुआ हूँ। धक्का देकर निकालने की कोशिश में से ही तो तुमने मुझे अपने इतने पास खींच लिया है। देखो, ऐसा न हो कि मुझे तुम्हारे भीतर बैठ जाना पड़े। अधिक प्रयत्न से यही होगा।"

"अरे, कोई है? बचाओ! निकालो!"

सोते व्यक्ति को मालूम हुआ कि बोल रहे हैं, पर आवाज निकल नहीं रही है। डर के मारे घिग्घी बंध आयी है।

"डरो नहीं, डरो नहीं बेटा!"

आगत मूर्ति ने अपना करुणा का हाथ उसके मस्तक की ओर बढ़ाया। उसे लगा कि ओह, जैसे वह परमेश्वर का डंक ही न हो। वह बेहद घबरा आया। जैसे मौत का पंजा उसे दबोचने आ रहा हो। एकाएक उसमें से चीख निकली जो रात के सन्नाटे को चीरती

हुई चली गई। रक्षक पहरेदार चारों तरफ से दौड़ते हुए आये।

प्रकाश किया गया। देखा, उनके महामान्य का चेहरा पीला पड़ा हुआ है। शरीर पसीना-पसीना हो रहा है।

"क्या था ?"

"क्या है ?"

"क्या हुआ ?"

अधिपति ने एक क्षण बदहवासी में चारों ओर देखा। देखा कि सब ओर उसके ही अनुचर और अंगरक्षक हैं। उसका ही दुर्ग है, उसका ही कक्ष है। अगले ही क्षण मुस्कराकर कहा--"कुछ नहीं, कुछ नहीं।"

सबको सान्त्वना हुई।

व्यक्ति ने कहा--"पानी !"

और एक गिलास पानी पीने पर पसीना उसका शांत होने लगा। तब उसने फिर सोने का उपक्रम किया।

मार्च, १९६०.

| पैसे का सत्य

खण्ड ६

समाज और निजता

कल्पना की गई कि व्यक्ति-त्व नहीं रहेगा तब समाज का एक-त्व अबाधित और परिपूर्ण होगा। वह अवस्था होगी जब राज-तन्त्र समाज में गर्भित हो जायगा। अलग से विधान की पोथी और दंड संस्था के रूप में उसे रहना न पड़ेगा।

शायद पन्द्रह बरस पहले की बात है। राह चलते एक भीड़ दिखाई दी। पास पहुँचने पर देखा कि एक आदमी एक स्त्री को बुरी तौर पर लात-घूंसों से मार रहा है। लोग खड़े हैं, तमाशा देख रहे हैं। कोई कुछ सोचता भी है कि मदद करे और कदम बढ़ाता है तो लोग कहते हैं—उसकी बीबी है, वह मालिक है। कोई बीच में पड़नेवाला कौन होता है।

उस समय था कि आप जितना चाहे कमाइये और चाहे जितना खर्च कीजिये, आप मालिक थे। कोई कुछ कह नहीं सकता था।

आज बात पहले सी नहीं है। मैं अपनी ही कहता हूँ। रात ग्यारह बजे का समय था और पड़ौस से शोर आना शुरू हुआ। कोई साहब देर से लौटे थे और शायद कुछ चढ़ाये हुए भी थे। होते-होते बात का पारा चढ़ा, गाली तक की नौबत आई। फिर शायद हाथ छूट बैठा। दो-चार मिनट तो बर्दाश्त हुआ। लेकिन फिर सीधा उनके घर पहुँचा और कहा—यह क्या शोर है? अरे भाई, लड़ना है तो ऐसे लड़ो कि औरों की नींद में खलल न पहुँचे। सुनो, आगे शोर न हो।

इस पर सचमुच बात फिर ठंडी हो गई, शोर-शराबा नहीं आया। न गलती मुझे मालूम हुई, न दखल उन्हें मालूम हुआ।

इसी तरह आज कमाने और खर्चने के बारे में आपकी आज़ादी

उतनी नहीं है, कानून की आँखें दोनों पर हैं। पहले वे आँखें घर के बाहर रुकी रह जाती थीं, अब भीतर ही नहीं कमरे-कमरे तक पहुँचती हैं। और यह बतौर हक।

मालूम होता है एक दायरा बढ़ रहा है और वह समाज का है। दूसरा दायरा घट रहा है, वह निज का है।

एक विचार चला जिसे समाजवाद कहते हैं। वह मूलतः यह है कि व्यक्ति स्वयं पर है नहीं, इससे स्वयं का नहीं है। वह औरों के साथ है; इतना ही नहीं, उन पर निर्भर है। इसलिये सत्य समाज है, व्यक्ति तो अंग है। अतः सत्ता का अधिष्ठान समाज में होगा। अधिकार वहाँ रहेगा। व्यक्ति समाज के प्रति अर्पित हो, यह यों निरी भावना की बात रह जाती है; अर्थात् व्यक्ति पर छोड़ें तो यह भी हो सकता है कि समर्पित न हो। नैतिकता कर्तव्य तक रहती है, इससे अधूरी चीज़ है। वह व्यक्ति से अपेक्षा करके रह जाती है; यानी तब; अधिकार व्यक्ति के पास पहुँचता है, समाज सिर्फ आशा रख सकता है। समाज का वाद इसीलिये मानता है कि यह गलत है; अधिकार समाज के पास होगा, व्यक्ति से समर्पण न आये तो समाज उसे बलात् लेगा। सीधी तरह समाज के हित में व्यक्ति रहे तो अच्छा ही है, नहीं तो टेढ़ी तरह दण्ड और कानून के जोर से उसे रखना होगा। संक्षेप में सत्ता और अधिकार समाज के पास रहेंगे, व्यक्ति अधीन होगा।

यह तो वाद हुआ। अब प्रश्न होता है कि समाज के पास कुछ चीज रहेगी कैसे? समाज वह है कहाँ? मान लीजिये कि अपना फाउन्टेनपैन मैं समाज को देना चाहता हूँ, तो बताइये कैसे दूँ? लाख उपाय करके भी यह सम्भव नहीं हो सकता। कारण, समाज संज्ञा है तो धारणावाचक है, व्यक्तिवाचक नहीं है। इस तरह यह मानने के बाद भी कि सत्ता और अधीनता समाज की हो, आवश्यकता रहती है कि समाज का कोई मूर्त रूप हो। समाज स्वयं अमूर्त है, मेरी मुलाकात उससे अब तक नहीं हो पाई है। इससे वाद की बात जब काम की बनती है तो समाज को मूर्त करना पड़ता है। वह

मूर्त रूप बनाया गया : राज्य।

राज्य क्या है ? पहले राजा होता था। एक शूरवीर आदमी निकला और कबीले-के-कबीले ने उसको सरदार स्वीकार किया। कबीले ने उसे सरदार बनाकर अपने को जत्थाबंद जमात बनाया। फिर वह काम उसके वंशजों से निभता चला गया; पर यह ढंग होते-होते विचार में पिछड़ गया। यों अब भी इक्का-दुक्का राजा मिल जायेंगे, पर जमाना प्रतिनिधियों का है। समूह, जिनको राष्ट्र कहते हैं, वोट के ज़रिये अपने प्रतिनिधि चुनते हैं। और वे समाज के अन्तःकरण-धारी के रूप में सत्ता-धारी बनते हैं।

यह प्रतिनिधि कैसे बनें, कब तक रहें, आदि-आदि के बारे में अलग लोगों ने अपनी अलग धाराएँ बना ली हैं। इन बातों को विधान कहते हैं। पर राज्य के तन्त्र का यह तो नीति-निर्माण वाला पक्ष हुआ; उस नीति के पालन के लिये जिस विभाग का निर्माण होता है, वह चुनाव-निर्भर नहीं स्थिर होता है। प्रतिनिधि बदलते रह सकते हैं, कर्मचारी जल्दी बदल नहीं सकते।

तो समाज की ओर से सत्ता और स्वत्व को इस यंत्र के पास रखा जाता है। समाज की अधीनता, समाज का हित, समाज के प्रति समर्पण अन्ततः इस यंत्रारूढ़ वर्ग के प्रति देय के रूप में परिणत कर्तव्य बन जाता हैं।

समाजवाद के वैज्ञानिक विचार से मालूम हुआ कि अन्त में राज्य के यंत्र को अनावश्यक होकर बिखर रहना चाहिये। तब क्या होगा ? जान पड़ता है कल्पना यह है कि जो काम अब शासन नाम के तंत्र से साधा जाता है, वह काम अव्वल तो उतना जटिल और विकट नहीं रह जायगा; फिर यत्किंचित् जो शासन की आवश्यकता रह भी जायगी, वह समाजानुशासन में से पूरी हो जायेगी। शासन धीरे-धीरे अनावश्यक इसलिये होता जायेगा कि अनुशासन बढ़ता जायेगा।

यह अनुशासन क्या चीज है ? मालूम होता है कि शासन यदि वह है जो बाहर से और ऊपर से आता है तो अनुशासन वह है जो

अन्दर से और स्वेच्छा से आता है ।

अनुशासन बढ़ता जाय, यह शासन को भी इष्ट है । बढ़े हुए अनुशासन में फिर व्यक्ति और समाज इन दो वृत्तों का परस्पर क्या सम्बन्ध होगा ?

समाज का वाद तो समाज के ही एक वृत्त को चाहता है, दूसरे वृत्त को समाप्त देखना चाहता है। इसलिये वैज्ञानिक के नाम पर वह वाद कड़ीबद्ध तर्क के जोर से उस समाज-व्यवस्था के निर्माण में प्रवृत्त होता है जिसका तन्त्र राज में केन्द्रित हो और उससे स्वतन्त्र न हो। जो व्यक्ति अब तक अपनी व्यक्तिमत्ता से मुक्त नहीं हो सके हैं, उन पर यह समाज बहुत कृपा करे तो जेलखाने में रख सकता है; न्याय में तो उन्हें समाप्त करना ही होता है । राज्य व्यक्तियों को मार रहा है, इस रूप में प्रश्न ही वैज्ञानिक समाजवाद के समक्ष नहीं आता । वह केवल समाज-हित में असामाजिक वृत्ति के बीजाणुओं को समाप्त कर रहा होता है !

कल्पना की गई है कि व्यक्ति-त्व नहीं रहेगा तब समाज का एक-त्व अबाधित और परिपूर्ण होगा । यह अवस्था होगी जब राजतन्त्र समाज में गर्भित हो जायगा, अलग से विधान की पोथी और दण्ड की संस्था के रूप में उसे रहना न पड़ेगा ।

मान लीजिये, राष्ट्र में साठ करोड़ आदमी हैं । स्त्री हैं और पुरुष हैं । अनुपात भी विषम नहीं है । अब तक चलता यह है कि एक स्त्री और एक पुरुष के संगम के आधार पर घर की इकाई बनने दी जाती है । इस संस्कार को विवाह कहते हैं और स्त्री-पुरुष पति-पत्नी बनते हैं । संतति होती है और वह माता-पिता की कहलाती है । दोनों आपस में चाहे काम के क्षेत्र बाँट लेते हों, एक का घर दूसरे का बाहर, पर दोनों मिल-जुलकर उत्पादन करते और उपभोग करते हैं, मिल-जुलकर कमाते खाते हैं । इस तरह कुटुम्ब का एक अपना स्वार्थ बन जाता है और उस प्रेरणा से वे श्रम करते हैं और जीवन को उपयोगी बनाया करते हैं ।

लेकिन इस पद्धति से परिवार समाज से प्रधान भी बन जाता

है। बड़े परिवार या कुछ परिवार मिलकर एक न्यस्त स्वार्थ का रूप ले लेते हैं, यह वेस्टेड इण्टरेस्ट्स पूँजीवाद का निर्माण करते हैं। इसमें स्वतन्त्रता होती है, पर स्पर्धा और शोषण की स्वतन्त्रता वह अधिक हो जाती है, सहयोगी और सामाजिक इतनी नहीं रह पाती। परिवारों के स्वार्थ रगड़ में आते हैं और एक दूसरे को क्षति पहुँचाते हैं; इससे समष्टि-रूप समाज को घाटे में रहना होता है।

सोचनेवालों ने सोचा, बहुत सोचा, और एक शास्त्र खड़ा किया। व्यक्ति और व्यक्ति के बीच से स्पर्धा और संघर्ष को हटा दिया जाय, स्वत्व का आपस में झगड़ा-दावा न हो, सब आपस के न होकर सीधे समाज के हों, अधिकार केवल समाज का हो और दफ्तर के द्वारा हो, परस्पर के प्रति किसी प्रकार का वह अधिकार न रह जाय, सब काम करें और एक जगह से दाम पायें, यथाशक्य करें, यथावश्यक पायें—तो ऐसे समाज खूब फले-फूलेगा।

कल्पना में कोई कमी न थी, न तर्क में, न गणित में।

केवल कठिनाई थी मनुष्य की, अर्थात् उसके मानस की और मानस-परिवर्तन की। पुरानी परम्पराओं में पलकर आदमी जाने किन मान्यताओं से चिपट गया था। अपने में किसी आत्मा को मानने लग गया था, अपनेपन को पवित्र और अन्तिम गिनता था। ऐसे पृथक व्यक्तित्व की धारणा बना ली गई थी और उस पर जोर डाला जाता था।

यह मिथ्या अब भी सत्य बना हुआ है। अब करना केवल यह है कि यथार्थ और गणनात्मक के सत्य को प्रतिष्ठित करना है।

जैसे यह कि घर अलग हैं, रसोइया अलग है, बच्चों का लालन-पालन अलग-अलग है। अगर रहने के लिये बैरक हों; स्त्रियों के लिये एक, पुरुषों की दूसरी, या मिली-जुली सही; मेस हों जहाँ खाना हजारों के लिये एक साथ बने,—तो क्या इससे मानव-शक्ति की बचत न होगी? तब सब एक लय और धुन में काम करेंगे, बच्चे पाँच-सात व्यक्तियों के किसी कुटुम्ब के न समझे जाकर

सारे समाज के समझे जायेंगे। कुटुम्ब जैसी-तैसी परिस्थितियों में उन्हें पालपोसकर बड़ा करने के दायित्व से छूटेगा और दायित्व वह व्यवस्थित रूप से समाज उठायेगा। तो क्या यह अधिक स्वस्थ और सफल व्यवस्था न होगी ? स्त्री-पुरुष समागम परिस्थिति और विवाह-प्रथा पर निर्भर न रहकर मुक्त और वैज्ञानिक हो तो क्या परिणाम में अधिक स्वस्थ और सुन्दर और विपुल अथवा नियोजित संतति हमें न प्राप्त होगी ?

फिर उत्पादन लीजिए। अभी छोटे-छोटे टुकड़े बाँटकर तो हम बोते और बनाते हैं। उसमें पूरे राष्ट्र की आवश्यकताओं का विचार उतना नहीं रहता है। दूसरे, बड़ी मशीनों का पूरा लाभ भी इस तरह नहीं लिया जा सकता। इसलिये अपने-अपने खेत, अपने-अपने घर, अपने-अपने बच्चे, अपने अलग पति और पत्नी न होकर सब समाज का हो और राज्य की ओर से विधिवत् अनुशासन के साथ सब व्यवस्था हो तो क्या हमारा समाज अधिक संतुष्ट और सम्पन्न न दिखाई दे आयेगा ?

एक चीज है निजता। उसको लेकर बन खड़ी हुई है बीच में मर्यादा, पवित्रता। यह भावुक धारणायें हैं और जीवन के प्रवाह को जहाँ तहाँ काटती और रोकती है। निजता की जगह सामाजिकता को दी जाए तो केवल आत्मवान होने की व्यर्थ चेष्टा से बचकर व्यक्ति उपयोगवान होने लगेगा। हम देखेंगे कि समुदाय का उससे लाभ हुआ है, अलग-थलगपन कम हुआ है और कोई व्यक्तिगत साधना के नामपर समाज से बिछुड़ा रहकर अपने को सार्थक और श्रेष्ठ मानने की भूल नहीं कर सकता है !

आज के अखबार में देखा कि चीन में कुछ इस धारणा के आधार पर व्यापक प्रयोग होने जा रहा है। कुछ पहले सुनते हैं रूस में प्रयोग हुआ था; सबके लिये सबको और भोग को सुलभ बन जाने देने का प्रयत्न किया गया था। निजी शब्द जीर्ण और बुरजुआ बन गया था। सुनते हैं वहाँ यह शब्द फिर उठ रहा है और प्रतिष्ठा पाता जा रहा है। अपनी आय होने लगी है, परिवार होने लगा है और पति-पत्नी संबंध में पवित्रता के भाव को बढ़ावा मिल

रहा है।

जहां कुटुम्ब की नींव को मजबूत किया जा रहा है वह रूस शायद पुराना पड़ रहा होगा ! चीन नया उभरता हुआ देश है, उसे तरक्की करनी है और काम ज़ोर से करना है। उसे जो आशा है कि वह मानवता का भविष्य बनेगा उस आशा पर तुषार डालने का काम मैं नहीं कर सकता।

केवल इतना विचार होता है कि मानवता ने हजारों वर्षो में जो प्रयोग किये हैं, शायद उनमैं चीन का कुछ बहुत अनोखा प्रयोग न सिद्ध हो। शायद चीन अपने पूर्वजों को भूलकर कोई बड़ा अपूर्व काम न कर रहा हो और हो सकता है कि अन्त में नया चीन भी पाए, जैसे कि उसके पूर्वजों ने पाया और बताया था, कि व्यक्ति वृथा नहीं है। कि व्यक्तित्व से समाजत्व नष्ट होने के बजाय सही अर्थ में पुष्ठ ही होता है और व्यक्तित्वहीन व्यक्तियों से जो बनता है वह समाज नहीं छत्ता होता है, अधिक-से-अधिक वह छावनी हो सकता है जो फिर मानवता का भूषण नहीं है।

मई, १९६०.

कमाई का मूल्य

टोटेलीटेरियन और वेलफेयर स्टेट की धारणाएँ लगभग समूचे समाज को उस तल पर ले आती हैं जहाँ कमाई को ही मूलभूत मूल्य माना जाता है और उसी हिसाब से व्यक्तियों को स्तर और स्थान दिया जाता है। व्यय-मान और आय-मान ही जीवनमान बन जाता है और मानव-मूल्य बाजार-दर की वस्तु हो जाता है। इस संकट में से हम गुजर रहे हैं।

पड़ौस से कल हमारे यहाँ भाजी आई तो मैं सामने ही पड़ गया। पूछा, यह क्या है ?

'जी, बात पक्की हो गई है।'

'ओः, अपनी उषा की ? बड़ी खुशी की बात है।'

देखता हूँ सब लोग खुश हैं। लड़का आठ सौ कमा रहा है। अभी उम्र क्या है, आगे ढाई तीन हज़ार तक पहुँचेगा।

दूसरी जगह रिश्ता लड़के का हुआ है। वह खुश हैं, क्योंकि उधर लड़कीवाले रईस हैं। पचास हजार शादी में लगायेंगे। पिछले ही साल उन्हें मिल में आठ लाख का मुनाफा हुआ है।

वह वकील साहब हैं कि चार हज़ार की प्रैक्टिस है। आधा केस तो उनकी शकल से समझिये जीत जाता है।

अँह, उसकी कमाई क्या है। महीने में कुल ढाई सौ ! और यह ढाई सौ वाले महाशय अपने को उसी लायक समझते हैं !

एक हैं जिन्हें काम मिल नहीं रहा है। छः महीने हो गये भटकते हुए। कालेज से आये थे तो क्या रंग था, अब चेहरे पर हवाइयाँ हैं। लोगों का खयाल है कि और कुछ महीने इस तरह निकले तो कहीं दिमाग पर असर न आ जाय। कारण, कमाई

उनकी सिफर है !

तो ये तरह-तरह की कमाइयां हैं। सूखे सिफर से लेकर असंख्य तक। असंख्य इसलिये कह रहा हूँ कि लोग हैं जिन्हें सचमुच अपनी कमाई की कूत नहीं है। हर मिनट कितना उनके नाम में बहा चला आ रहा है, इसका हिसाब करने बैठें तो खुद चकरा जायँ।

स्पष्ट है कि यह कमाई बड़ी चीज है। आदमी उसी ज़ोर से बड़ा-छोटा बनता है; खुश और उदास बनता है, मालिक और चाकर बनता है। गहरी चीज है यह कमाई और इसलिये करीब सभी इसके फेर में हैं।

हाँ, चन्द जरूर जान बूझकर इसके चक्करसे बाहर होते हैं। या तो बेबस होते हैं, या उसके स्वाद से भर आते हैं, या निगाह उस चक्कर से उनकी ऊँची उठ जाती है। जो हो, वे थोड़े हैं और इस समय विचार के लायक नहीं हैं।

मुझे उनमें गिनिए जो कमाई चाहते हैं, जानते नहीं हैं। मैंने खाक कभी कमाकर नहीं दिया। गिरस्ती कैसे चली यह राम जाने। कुछ कह जाता है, लिख जाता है, छप जाता है, बिक जाता है। उसमें से पैसा भी कुछ बना चला आता है। पर कमाई होती है, इस भेद का पता नहीं चलता।

फिर भी एक बार पता लगा था। उस कमाई का थोड़ा दर्शन और थोड़ा रस मिला था। उस पर मैं शर्मिन्दा हुआ था और एक व्यवसायी मित्र रुष्ट हुए थे। उसके बाद से फिर अवसर नहीं अपनाया। पर देखता रहा हूँ कि कमाइयाँ हो रही हैं। जबरदस्त से जबदस्त ढंग पर हो रही हैं। पर नही, अपना बस नहीं चलता है।

वह बात यों हुई। सवाल था ही कि क्या किया जाय। एक प्रकाशक बन्धु ने सलाह दी कि दो किताबों के पैसों का इंतजाम कर दो; फिर सब मुझ पर छोड़ दो और देखो क्या होता है। उन्हें विश्वास था कि ऐसे मेरा बड़ा उपकार हो जायगा। मुझको भी मित्र पर भरोसा था। उसमें सवाल कागज का आया। कागज का बाजार ऊँचा था; कहा गया कि दाम क्या, कागज़ ही लाकर दे दूँ तो अच्छा

है। एक नमूने का शीट लाकर मैंने मित्र को दिखाया। काग़ज़ उन्हें पसन्द आया। उन्होंने भाव पूछा। मुझे जाने क्या हुआ कि भाव मैंने दो पैसा ऊपर बताया। कागज़ उन्हें पसन्द था और मुझे याद नहीं है कितने, लेकिन कुछ रीम उन्होंने उस कागज़ के अपने लिये भी माँगे। मेरी आँखें खुली रह गईं ! यानी ठीक उस पल कहना चाहिये कि मैंने ढाई सौ रूपये कमा डाले थे ! मेरी कुछ समझ न आया। ढाई सौ रुपये मेरे लिये बड़ी चीज थी। लेकिन बिना कुछ किये-धरे सिर्फ दो पैसा कीमत मुँह से ज्यादा कह देने से सीधा ढाई सौ रुपया मेरे हाथ आ गया था। उस समय मैं मन-ही-मन मान रहा था कि मैं झूठ कह गया हूँ; मेरे अन्दर उसकी लज्जा थी, ग्लानि थी। पर वही सब एक क्षण में होशियारी बन आई, वही कला कमाई की हो गई !

आखिर जहाँ से कागज़ आया मित्र का उनसे साक्षात्कार हुआ। तब मालूम हुआ कि मैंने दाम दो पैसा अधिक बताया था और अंतर का मुनाफा स्वयं रखा था।

यह अनुचित समझा गया। मैं भी अनुचित समझता हूँ।

पर कमाई की भाषा में वह सर्वथा उचित है। कौशल है जो वैश्य को सिद्ध होना और करना चाहिये। अनुचित वहाँ यह हो सकता है कि जब गुँजाइश अधिक की थी तो लाभ सिर्फ दो पैसा करके बस क्यों माना गया !

यदि वह अर्थानुयोग उचित न था तो इस कारण कि मैं लेखक था और लोगों को हक था कि आशा करें कि मैं अकुशल रहूँगा। मेरे पास यह विज्ञापन न था कि मैं वैश्य हूँ और व्यवसायी हूँ। लेखक का मतलब यह विज्ञप्ति है कि वह संतोषी है, अर्थ और आवश्यकता और लोभ से परे है, किसी भी अवस्था में वह लाभ नहीं चाहता है, घाटा अवश्य उठा सकता है। तो यह दो नीतियाँ हुईं। एक तो यह कि मैं मित्र का नफा करूँ और उसमें सहायक होने के निमित्त अपना श्रम और विसर्जन दूँ, मित्र को मित्र मानूँ, व्यवसायी मानूँ ही नहीं। दूसरे यह कि व्यवसाय के निमित्त

से जब वह कागज चाहते हैं और अमुक भाव पर लेने में प्रसन्न हैं तो यह दायित्व वृथा न ढोऊँ कि ख़रीद का भाव बताऊँ। बाजार में बैठे हैं, अपना निर्णय वह कर सकते और हित संभाल सकते हैं, मेरी हितैषिता पर निर्भर नहीं हैं।

पहली नीति हिसाब की और कमाई की नहीं है। दूसरी नीति कमाई की है।

अक्सर सोच होता है कि इस दुनिया का काम कैसे चलना चाहिये। यह सूत्र तो नाहक है कि प्रेम से चलना चाहिए। क्योंकि जीवन में सूत्र नहीं, व्याख्या चलती है। अब कुछ यहाँ हिसाब के लोग हैं, कुछ बेहिसाब हैं। अपने को जो हृदय के हाथ देकर चलते हैं वे दूसरे का हित पहले सोचते हैं। ऐसे लोग एकदम ग़लत तो नहीं कहे जा सकते, साहित्य उन्हीं की महिमा गाता है। पर हिसाब की ज़मीन पर वे ही मूरख बनते हैं।

अगर हमारा काम-धाम ऐसे चले कि यह मानवता का हार्दिक नमूना जगह-जगह अपने को वंचित और मूर्ख अनुभव कर आये तो मानना होगा कि वह समाज सभ्य नहीं है। तब आवश्यक है कि उस समाज का चलन दूसरी रीति-नीति के मुताबिक है, यानी असभ्य है। अर्थात् उसमें नफ़ाख़ोर आदमी की प्रधानता है जो परस्पर आवश्यकताओं के आदान-प्रदान के व्यापार में अपने लिये लाभ का अवसर रखना आवश्यक समझता है। यदि समाज का मूल्य यह दूसरा है तो ऊँचा आदमी वह बनता है जो दूसरे की ज़रूरत को अपना मौका मानता है!

आज जिसको भ्रष्टाचार कहते हैं, वह क्या है? आपकी कुछ आवश्यकता है, उसकी पूर्ति का साधन तनिक अमुक के हाथ है। इस अवसर को वह जाने नहीं देता और उसका उपयोग कर लेता है। आपको परमिट चाहिये, वह क्लर्क है। उसके हाथ परमिट बख्शना नहीं सिर्फ उसका फार्म तैयार करना है। फार्म तैयार न हो तो आगे बात चलती ही नहीं। इस तरह वह है कि आपको अटका सकता हूँ। अब आप सामने करते कुछ नोट हैं जिसे रिश्वत कहा जाता

है। वह हाथ बढ़ाकर ले लेता है और फार्म तैयार कर देता है। वह क्यों न उसे हक माने ?

क्लर्क के परिवार है, बच्चे हैं। दूध उनको मिलना चाहिये, ज़रूरी ख़ूराक मिलनी चाहिये। उसको, मान लीजिये, सौ रुपया मिलता है और मंहगाई वही है जो है। अब किससे जाकर कहे कि हिसाब सही फैलता नहीं हैं, सही फैलाएँ तो बच्चे को दूध मिलता नहीं है। क्या हक यह है कि बच्चे को दूध न मिले? कई बार वह देखी-अनदेखी कर गया हैं। भूख है तो हैं, ईमानदारी क्यों छोड़ें, ऐसे जबतक हो सका है उसने धरम को पकड़े रखा है। पर चारों तरफ देखता कि है कमाई की जा रही है, महिमा उसकी ही दीखती हैं। धर्म को भी देखता है कि ऊँची कमाई से ऊँचे तौरपर किया जा सकता है। तब ज़रूरतमंद खुशी से कुछ सामने करता हैं तो वह ले लेता है। पहले मन मारकर लिया था, पीछे हक मानकर लेता है।

अजी, ऐसे उसे रिश्वत लेने के लिये सजा हो सकती है। जानता हूँ हो सकती है। पर अव्वल तो वह होशियारी से काम लेता है। पकड़ा ही न जाए तो होगा क्या? मान लो पकड़ा गया, तो होगा सो भुगत लेगा। पर इस बीच घर तो पलेगा, इज्ज़त तो बनेगी। ज़रूरतें पूरी होंगी, लड़की का ब्याह हो सकेगा। चार जनों को खर्च करके खुश रख सकेगा।

एक काला बाज़ार है, दूसरा सफेद बाज़ार। सफेद और काले के बीच की लकीर को देखने चलते हैं तो वह कागज़ी से गहरी नहीं रहती। सरकार के बीच में आने से सफेद और काले में भेद पड़ता है। वह जब तक न आये सब सफेद ही है। अमुक की आवश्यकता को अपना अवसर मानना गैर क़ानूनी नहीं है, उसमें अनीति नहीं है। तब कानून को आकर लकीर वह खींचनी पड़ती है और कहना पड़ता है कि लकीर को लांघा तो उसके लिये हमारे पास यह डंडा है।

सच यह है कि कानून की उन धाराओं को कितना भी पकड़े और कितना भी उन्हें स्पष्ट करें, लकीर वह रहती ही है फर्जी और

आरज़ी। हमेशा उसमें तर्क की गुंजायश होती है। हिसाब के कागज-पत्र रखने का ढब आना चाहिये कि कानून की बहुत कुछ भरपाई हो जाती है। नीति-अनीति की लकीर जब तक मन में ही नहीं पैदा होती है तब तक कागज पर खींचने से काम पूरी तरह चलता नहीं है।

व्यापार,व्यवसाय का एक स्तर है। उस स्तर से अलग हटाकर उसको चलाया नहीं जा सकता। उसका मूल लाभ है, त्याग नहीं है। उस बुनियाद को समाप्त करने में तो सब ढह जाता है। वे लोग जो लाभ की भाषा में सोचते और चलते हैं, उनकी शक्तियों के उपयोग से समाज को वंचित करना घाटे का सौदा होगा। यह वैश्य वर्णी समुदाय है जो हिसाब में चौकस रहता है। तदनुकूल उसकी वृत्ति है। मांग और पूर्त्ति पर उसकी निगाह है। उस नब्ज की उसे पहचान है। उसे इस विषय का विशेषज्ञ ही कहिये। उसके संस्कार में, रक्त में, यह गुण-बीज है। वह उस प्रेरणा से जीवन-भर अथक काम करता जा सकता है, क्योंकि इसी अर्थलाभ में उसे आत्मलाभ अनुभव होता है।

किन्तु वह एक वर्ण हैं। समाज में और भी वर्ण और गुण के लोग हैं। जैसे ब्राह्मण ही है। हो सकता है कि किसी की अर्थ लाभ में तृप्ति हो, इस व्यक्ति को अर्थ-त्याग में ही तृप्ति दीखती है। किसी को वस्त्र की जगमग अच्छी लगती हो, कुछ को सादगी ही भाती हो। एक क्षत्रिय वर्ण है, उसके लिये आन और मान ही सब कुछ है; एक आन पर लाखों का लाभ वह कुरबान कर देगा। वह बहादुरी की भाषा में जीवन की कीमत मानता है। उसी तरह कुछ लोग़ हैं जो अपनी से अलग किसी व्यापक मांग और पूर्ति की बात को पकड़ ही नहीं सकते, वे निज की आवश्यकता को लेकर चलते हैं और दूसरे के काम आने को उद्यत रहते हैं। इन सभी प्रकार के लोगों से समाज बनता है। सभी अपनी-अपनी जगह उपयोगी हैं और वैश्य की सेवा समाज के लिये किसी से भी कम आवश्यक नहीं है। आवश्यकता और पूर्ति के संतुलन की मांग में

वह हवा की तरह यहाँ से वहाँ दौड़ जाता है। आवश्यकता यहाँ है, पूर्ति का साधन हजार कोस दूर है। वैश्य उसको सूंघ लेगा, दौड़ जायेगा और वहाँ से लाकर वस्तु को यहाँ सुलभ कर देगा। जैसे कुछ विशेष नस भीतर रख कर उसे सिरजा जाता है कि वह लाभ भांपता रहे और काम करता रहे।

लेकिन अर्थलाभ के आधार पर विनिमय और विनियोग का मूल्य वैश्य-मूल्य है, समाज और संस्कृति का मूल्य वह बनेगा तो अथाह हानि होगी।

जो समाज और राज्य और जो सभ्यता उसको सर्वोपरि और केन्द्रीय मूल्य बना लेगी वह फिर युद्ध और पाप में घिरे बिना रह न पायेगी।

औद्योगिक सभ्यता वही आर्थिक सभ्यता है। उस प्रवाह में हम यहाँ तक आ गये हैं कि राज्य को राष्ट्रीय-रूप में एक व्यापारिक संस्था बना बैठे हैं। यह शुभ लक्षण नहीं है। राज्य जब व्यापार करता है तो त्याग और शौर्य के मूल्य पीछे पड़ जाते हैं और आपसी सम्बन्धों में शालीनता और औदार्य का स्थान स्वार्थमय स्पर्धा की वृत्ति ले लेती है।

टोटेलीटेरियन और वेलफेअर स्टेट की धारणाएँ समूचे समाज को उस तल पर ले आती है जहाँ कमाई ही मूल-भूत मूल्य माना जाता है और उसी हिसाब से फिर व्यक्तियों को स्तर और स्थान दिया जाता है। व्यय-मान और आय-मान ही जीवन-मान बन जाता है और मनुष्य बाजार के मोलभाव की वस्तु हो जाता है। इस संकट में से हस गुजर रहे हैं।

जून, १९६०.

सवाल पैसे का : चेतावनी राज्य को |

मुद्रा की संस्था के इस तरह केन्द्रित होते जाने और औसत आदमी से इससे विलग होते जाने से सुभीता बढ़ा है तो समस्याएँ भी बढ़ी हैं। समस्या यह कि जिसके हुकुम से सिक्का ढलता या नोट छपता है, उस केन्द्र की कृपा के वृत्त में जो जितना निकट है, वह उतना ही भाग्यवान हो जाता है और दूर वाला अभागा बन जाता है।

सवेरे ही सवाल हुआ कि नौकर जा रहा है। पचास रुपये तनख्वाह से ऊपर मांगता है। उसकी बीवी के चोट आ गई है। इलाज के लिये चाहिये।

श्रीमती जी ने इसके बाद याद दिलाया कि तैयारियाँ कर रहे हो कि नहीं ? पन्द्रह हज़ार से कम शादी में नहीं लगने वाला है।

तदनन्तर सनातन विलाप कि यह जिन्दगी सारी यूं ही चली जायगी, यह भी नहीं कि आराम से बैठने को एक मकान तो होता। अरे पच्चीस-तीस हज़ार में छोटी सी एक काटेज ही डल जाय तो बहुत है।

ग्यारह बजे एक सज्जन आये। उनकी समस्या कि लड़का इन्ट्रेस में फर्स्टक्लास आया है, पढ़ने में तेज है। आगे पढ़ना चाहता है। लेकिन छात्रवृत्ति हो तो चले। बताइये क्या करूँ ?

वह बुजुर्ग भी उसी रोज पधारे। कहने लगे कि और तो सब ठीक है, पर लड़का क्लर्क है। सिर्फ डेढ़ सौ पाता है। प्रमिला की आँखों में अभी नशा है, पर सोचिये डेढ़ सौ में कैसे चलेगा। माना जायदाद है, दो-चार सौ उसके आ जाते हैं। लेकिन……प्रमिला आपको बहुत मानती है। मेरी निगाह में एक रिश्ता है, उम्र होगी बत्तीस-चौंतीस। आमदनी ढ़ाई हजार। पर लड़की मानती नहीं, कहती

है दुहेजा है। है तो क्या हुआ। दो ही तो बच्चे हैं। इससे तो और जिम्मेदारी सीखने का मौका है। बड़ी बात है पक्का कारोबार। और आमदनी अब ढाई हजार है, बढ़कर पांच-सात दस हजार भी हो सकती है। आप प्रमिला को समझाइयेगा। मैं बाप हूँ, मेरी क्यों वह सुनने लगी। क्यों भाभी जी, ठीक है ना ?

उनकी भाभी, अर्थात् हमारी श्रीमती, से उन्हें समर्थन ही मिलता है। क्योंकि श्रीमती ने अनुभव पाया है कि पैसे बिना जिन्दगी बेकार है।

और अभी-अभी लेखक मित्र गये हैं। उनका लड़का यह छः सौ की पोस्ट पा जाय तो चिंता कटे। फिर बस साहित्य सेवा हो। देखिये, ख्याल रखियेगा। यह नाम, एप्लीकेशन का यह नम्बर। भूलियेगा नहीं।

इस तरह जिन्दगी में जो भंवर आते हैं पैसा उनके केन्द्र में दीखता है। समस्याएँ हृदय की हैं, प्रेम की हैं। अपमान और सम्मान की हैं। वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय हैं। कुछ कहो, मालूम होता है कि उनके निदान-समाधान में पैसे का स्थान प्रधान है।

यह कोई अनहोनी बात नहीं है। ग़लत बात भी नहीं है। शरीर में जैसे रक्त है, समाज में वैसे पैसा है। उस प्रवाही द्रव्य की ओर से उपेक्षा जिसमें है, वह कोई बड़ा काम नहीं कर सकता। जीना तक उसे दूभर बन जा सकता है।

जब से हमने समाज का रूप लिया है और पैसे का चलन चला है, तब से कम अधिक यही हाल है।

लेकिन उसी समाज में से ऋषि-मुनि निकले जिन्होंने अपरिग्रह की बात कही। उन्होंने धन छोड़ा और भीख का रास्ता लिया। घर-घर से कौर मांगा और इस तरह जीवन चलाया। तिस पर समाज ने माना कि असल में इन लोगों ने जीवन का सार और सत्य प्राप्त कियाहै। उनको दुनिया के लोगों ने पूजा और प्रतिष्ठा दी।

यह दो बातें उल्टी दीखती हैं। लोग कह छूटते हैं कि सरस्वती और लक्ष्मी में बैर है। संसार और भगवान को भी विमुख माना गया है। पर ऐसा मान लेने से सिर्फ मानने वालों को छुट्टी मिलती है, बात की गांठ खुलती नहीं है। पहले मेरी याद तक में कौड़ी एक सिक्का थी। इतनी कौड़ियों का छदाम और इतने छदाम का एक पैसा होता था। कोड़ी कोई बनाती नहीं थी। समुद्र के किनारे से बीन लाइये और ऐसे उनसे पैसा पा लीजिए। यानी सिक्का वह चीज थी जो आम आदमी की पहुँच से एक दम अलग नहीं थी। श्रम से जुड़ जाती थी। श्रम बेचे बिना भी चल सकता था।

अब सिक्का धातु तक का कम रह गया है; आवागमन और यातायात बहुत बढ़ गया है और कागज के नोट से सुभीता होता है। दस हजार का सोना बांधना भारी पड़ता है, चांदी की तो बात क्या है। अब भुगतान लाखों-करोड़ों में जो होता है सो कागजी सिक्के से यह फैला कार-व्यौहार आसान हो जाता है। इसलिये निश्चय ही यह कागजी मुद्रा की संस्था सभ्यता की उन्नति की प्रतीक है। कागज क्या है, उसका अपना कुछ भी मूल्य नहीं है। उस पर जो साख की मोहर है, वही उसकी कीमत है। उस छापे में जितना लिख दिया गया, उतना ही उसका मूल्य हो गया। कागज ऐसे एक से दस हजार रुपये तक का हो सकता है, या जितना भी हुण्डी पर लिख दीजिये।

मुद्रा की संस्था के इस तरह केन्द्रित होते जाने, और औसत आदमी से इसके विलग होते जाने, से सुभीता बढ़ा है तो समस्याएँ भी बढ़ी हैं। समस्या यह कि जिसके हुक्म से सिक्का ढ़लता या नोट छपता है, उस केन्द्र की कृपा के वृत्त में जो जितना निकट है वह उतना ही भाग्यवान हो जाता है और दूर वाला अभागा बन जाता है। उस केन्द्र की कृपा की, और फिर कृपा-प्राप्त की कृपा की, शक्ति इतनी बढ़ जाती है कि जीवन जैसे सब उस धुरी के चारों ओर घूमने लगता है। यों समाज के शरीर का स्वास्थ्य कुछ विषम और चिंतनीय बनने लगता है।

मान लीजिये कि फेफड़े तो सबको मिलें, लेकिन हवा हर कहीं व्याप्त न हो, तो क्या हो ? हवा अगर कुछ के अधिकार और ठेके की चीज हो जाय, बेच-खरीद की चीज बन जाय, तो जीवन भी फिर उसी तरह कुछ तक सीमित होकर सिमट-सिकुड़ जाय। पैसे के आगे भी यही समस्या है। सोशलिस्ट पैटर्न, कम्युनिस्ट आर्डर वगैरह वगैरह जितनी बातें हैं सबका सार यह है कि किस प्रकार सब भरपूर दें और भरपूर पायें। पाने में रोक नहीं रहेगी तो चाहने की तृष्णा भी बेहिसाब न होगी। तब एक दूसरे के लिये लोग सहारा होंगे, शिकार न होंगे। शोषण की जगह स्नेह होगा। यह किस प्रकार होने में आये, यानी सिक्का कैसे सर्वसुलभ बने, उसमें से शोषण की शक्ति का कैसे लोप किया जाय, सामाजिक चिन्तकों के लिये यही सोच-विचार और मीमांसा का विषय बना रहा है।

राज्य समाज की केन्द्रीय संस्था है। उसके अधीन सब व्यवस्था चलती है। न्याय उसके हाथ है और मुद्रा नीति का नियमन राज्य करता है। इस तरह राज्य पर बड़ी भारी जिम्मेदारी आ जाती है। राज्य का धन प्रजा ही है, प्रजा अपना विश्वास देती है और कर के रूप में अपने श्रम का अंश दिया करती है। लोगों द्वारा दी हुई यह श्रम-शक्ति राज्य-शक्ति होती है। राज-शक्ति स्वतन्त्र नहीं है, स्वयंभू नहीं है, प्रदान और प्रतिनिधित्व धारा राज्य को पहुँचती है। इस तरह राज्य पर ज़िम्मा आ जाता है कि लोक-शरीर का कोई अंग मुरझाने और सूखने न पाये और व्यापक लोक-हित के ऊपर स्थापित स्वार्थों के फुंसी-फोड़े पनप न सकें।

यह धर्म और दायित्व राज्य द्वारा पूरा होता रहे, इसकी देखभाल और रोकथाम के लिये काफी प्रयत्न किये जाते हैं। विधान उसी रोकथाम का प्रतीक है। लेकिन जाग्रत और प्रबुद्ध लोक-चेतना न हो तो विधान कागज पर रह जाता है। शासन का साम्यवादी या लोकतांत्रिक जो भी रूप है तो इसलिये कि दुःख दैन्य किसी कोने में न रहे और प्रबल निर्बल का शिकार न करे। अपने आप में न तो साम्यवाद और न लोकतंत्र समर्थित है, कसौटी दोनों की फल में

है। इसी से गांधी ने आदर्श शासन के लिये कोई राजनीतिक शब्द नहीं दिया। उन्होंने कहा तो रामराज्य कहा, यानी वह जहाँ दुःख और दीनता नहीं है, जहाँ आवाज छोटे के पास भी है और वह सुनी जाती है।

यह तो दायित्व की बात रही। वह निश्चय ही बहुत बड़ा है। उसी के अनुसार फिर अधिकार भी राज्य के पास बहुत बड़ा है। यह अधिकार ही उसका अभिशाप है। जब धर्म कम और अधिकार अधिक हो जाता है, तब राज्य रक्षा का नहीं त्रास का कारण बनता है। और यही अधिकतर हुआ करता है।

तब उपाय एक ही है। वह यह कि धर्म के प्रतीक कुछ पुरुष हों जो अखिल के अन्तःकरण की भाँति समाज में रमकर रहें। वे निर्भीक हों और व्यथा के पुरुष हों। वे जनता के दुःख दर्द के साथ समरस होकर रहें और उसके अभाव अभियोगों को वाणी देते रहें। यह लोग होंगे जो अधिकार न चाहेंगे पैसा न चाहेंगे। पैसा राज्य से बहकर आता है, पर वे राज्य की कृपा से स्वतन्त्र होंगे, वे प्रजा की कृपा के भिखारी होंगे। इसलिये प्रजा-वत्सल होने के कारण राज्य को अन्त में उनके आशीर्वाद का भिखारी होना पड़ेगा।

वह जमाना सुनते हैं कभी था। क्या अब भी होगा? हो सकेगा तभी लोगों को सुख-चैन भी मिलेगा। नहीं तो भाषा में साम्य का हो या लोक का हो, राज्याभिमानी होकर राज्य के किसी तंत्र से प्रजा का सही भला न हो पायेगा।

यह चेतावनी इतिहास देता आया है। वर्तमान की स्थिति में यह चेतावनी भरी हुई है। क्या समय रहते राजन्य वर्ग सुनेगा?

सितम्बर, १६५६.

क्यों त्याग ?

त्याग का उपदेश कैसे फल ला सकता है जबकि त्याग फल है भीतर की विवशता का। फल पकने पर डाल पर रहे तो कैसे रहे ? पानी भरे बादल में से गिरे नहीं तो वहाँ थमे कैसे ? मन भरता है तो आँसू में ढरता हैं। त्याग अतः भराव में से न आये यह हो नहीं सकता।

गोष्ठी गांधी तत्व विचार को थी। थोड़े लोग थे, मगर सब अभ्यासी और जिज्ञासु। पर कुछ आरंभ हो इससे पहले ही एक भाई ने मुझ पर डालकर सवाल किया—आप त्याग की कहेंगे, लेकिन त्याग क्यों ?

'मैं त्याग की क्यों कहूँगा, भाई।'

'और नहीं तो क्या। गांधीजी जो कहते थे।'

'गांधीजी क्या कहते थे ?'

'यही त्याग, और क्या ?'

'मुझे नहीं मालूम। लेकिन मेरे मन में तो त्याग की कोई बड़ाई है नहीं।'

'क्या कहा आपने ? त्याग की बड़ाई नहीं है ? तब तो गांधी तत्वज्ञान सबका सब गिर जाता है। वह देखिये चित्र जो गांधीजी का आपके पीछे है। सब छोड़ महात्मा बने कि नहीं, और उपदेश त्याग का किया। लेकिन चारों तरफ इतनी चीजें हैं, तो उनके त्याग का मतलब ? क्या वे ऐसे कम होंगी, मिट जायेंगी। फिर त्याग से सिवा इसके क्या होता है कि आप उनसे कम होते हैं।'

'आप त्याग से नाराज मालूम होते हैं। गांधी ने कहा, कोई और कहता है, तो उससे क्या बनता है। आखिर आप जानते हैं उसमें सार नहीं है। फिर भी नाराजी है तो क्यों !'

कर रहा है। दिन रात लगा रहता है कि तीसवें दिन तीस रुपया हाथ आयगा। महीने में आठ आने अपने ऊपर खर्च करता है, साढ़े उनतीस घर के लिये बचाता है। घर का मतलब यह कि उसकी सात सौ रुपये में शादी हुई—बीवी की कीमत का कर्ज़ धीरे-धीरे चुकाना है...। यानि पैसा सबको चला रहा है।

पास में एक काम दिलाऊ दफ्तर है। काम कितनों को दिलाता है, भगवान जाने। पर रोज़ सात बजे से लंगार लगनी शुरू हो जाती है। दस बजे दफ्तर खुलता है। तबतक हज़ार का क्यू तो हो ही जाता होगा। इस क्यू में कभी कमी नहीं देखता हूँ। नाम लिखाने आते हैं कि बिकने को तैयार हैं, कोई भलामानस काम ले और पैसा दे।

इस पैसे के बारे में पढ़ा भी है, लिखा भी है। पर ऐसा नहीं लगता कि उसका सच समझ आया है। खुद पैसा पास नहीं आया, यह छोटी बात है। मन थोड़ी देर को उसके लिए अकुला भले आता हो, पर उसका सत् मिले यह हरदम की अकुलाहट है।

पैसे की संस्था के बारे में, उसकी प्रणालियों के बारे में, तो अर्थशास्त्र की पुस्तकों में बहुत कुछ ज्ञान रहता है। पर पैसे की आत्मा से परिचय उनके द्वारा हुआ नहीं जान पड़ता। मैं उसी को चाहता हूँ।

दो बातों की तरफ ध्यान जाता है। दस बजनेवाला है। ज़रा बाहर सड़क पर देखिये। लोग घरों से निकलकर साफ कपड़े पहने हर बस स्टेंड पर क्यू में खड़े होते जाते हैं। बसें भर भरकर जा रहीं हैं। उनसे अनगिनत साइकिलें। फिर रिक्शा, स्कूटर, टैक्सियां। नौ से लगाकर दस तक बस इस दिल्ली नगर में जहां देखिये यही हाल है। कहां जा रहे हैं ये सब लातादाद लोग ?—दफ्तर जा रहे हैं। दफ्तर एक मीलों तक में फैले हुए मकान का नाम है, जिसमें हज़ारों हज़ार कमरे हैं और हरएक में मेज़ कुर्सी लेकर आदमी दस से पांच तक बैठते और कुछ-कुछ किया करते हैं। इसके अलावा भी अनेक-अनेक मकान हैं और वे भी दफ्तर हैं। पांच

बजे के बाद फिर बाढ़ लौटती है। लोग निकलते हैं और फिर बिखरकर अपने दबड़ों में पहुँच जाते हैं।

यह नित्य का क्रम है। इन सब लोगों को तीसवें दिन पैसा मिलता है। जहां से यह पैसा मिलता है उसे सरकार कहते हैं। सरकार किसी आदमी का नाम नहीं है। मशीन का भी नाम नहीं है। चीज़ वह क्या है जिसका नाम सरकार है, कहना मुश्किल है। पर वह है और वहां से इन सब सवेरे दस पर आने और पांच के बाद जानेवाले अनगिनती लोगों को बराबर पैसा मिला करता है। पैसे में कागज़ मिलता है और उस कागज़ पर छपी इबारत में वचन होता है कि इसको दिखाओगे तो इतना पाओगे।

यह तो हुई एक बात, यानि सरकार।

अब दूसरी बात, यानी भगवान।

कल बैसाखी का मेला था। ओह क्या पूछिये। जाने किस-किस ढब की सवारियों पर गांव-गांव से बेहताशा लोग लुगाई चले आ रहे हैं, चले ही आ रहे हैं। जिनके पास और नहीं दो टांग हैं वे उन्हीं पर चल रहे हैं। यह जमात कुछ अलग है। बाबू लोगों की नहीं, देहातियों की है। पर जान पड़ता है संख्या में हेटे यह भी नहीं हैं। जाने दूर पास कहां-कहां से आ निकले हैं और कहां जा रहे हैं। शायद जमनाजी जा रहे हैं, या गंगाजी। वहां क्या होगा ? नोट मिलेंगे, या कुछ और मिलेगा ? दफ्तर में तो महीने पर दस्तावेज़ मिलता है जिससे मज़ें में गुज़र बसर चलती है। यहां ये सब क्या पाने जा रहे हैं। क्या, पुण्य ? वह क्या चीज़ होती है, कुछ नकद चीज़ होती है ? हुण्डी होती है ? जी,—जी नहीं। लेकिन उससे प्रसन्नता मिलती है। प्रसन्नता !—ओह, छोड़ो। लाभ क्या मिलता है, लाभ ? तभी तो जाहिल हैं। लुटाते हैं अपने को और फिर धन्न भाग मानते हैं !

इसी के सिलसिले में गीता की पोथी में लिखा कृष्ण भगवान् का बचन याद आता है कि मुझको भजो, योगक्षेम तुम्हारा मैं निबाहूँगा। कृष्ण भगवान की सरकार का सेक्रेटरियट कहां है, पता

नहीं। कहाँ जाकर उनकी मुहर छाप का चैक लेना होगा और किस बैंक में जाकर उसको भुनाना होगा, पता नहीं।

इधर जो छापे में लिखा है, 'आई प्रोमिज़ टु पे आन डिमांड' उसके नीचे दस्तख़त करनेवाला आदमी मौजूद है और उसके ऊपर-वाली सरकार मौजूद है। चलकर देखिये कितना ज़बरदस्त सेक्रेटरियट है। दूसरे लवाज़मात देखिये। दंग रह जाइयेगा। इसी-लिये इस जीती-जागती सरकार का भरोसा रखकर चलनेवाले लोग वे हैं जो समझदार हैं, अंग्रेजी जानते हैं, पैन्ट पहनना और अच्छा खासा रहना-सहना जानते हैं। तभी सरकार में होकर वह पूरे सुभीते और इंतज़ाम के साथ दुनिया का काम चलाते रहा करते हैं।

और वे देहाती दहकानी हैं, अपढ़ और नासमझ हैं जो अपनी जेब का खरच कर, तन पर मुसीबत उठा, गंगा या जमना मैया में डुबकी लगा राम और किशन की जय बोलते हुए मगन भाव से बस लौट आते हैं। पूछो कि राम और किशन कहीं कभी हुए भी थे? इतिहास में है भी कहीं उनका ठीकठाक पता? और हुए होंगे तो हुए होंगे, कौन वह अब बैठे हैं कि हमारा कुछ भला कर जायं। अंह मूढ़ गंवार हैं ये देहाती, और क्या?

तो यह दो बातें मन में उठती हैं। एक सरकार, दूसरे भगवान। पैसे की आवश्यकता को जानते भी अपनी अयोग्यता को देखकर मैं तो भगवान को ले बैठा हूँ। अपने बस का तो कुछ है नहीं, वह जाने उसका काम जाने। मैं कौन मांगने गया था उससे ज़िंदगी। चाहे तो ले जाय यह जान वापिस। अपने बस का भाई कुछ और है नहीं।

जानता हूँ, नोट धड़ाधड़ छप रहा है और बंट रहा है। घी के नाम पर तेल, दूध के नाम पर पानी, खाद्य के नाम पर अखाद्य, औषध के नाम पर रोग, शिक्षा के नाम पर सनद आदि-आदि पदार्थ खूब बिक रहे और एवज़ में पैसा ला रहे हैं। ऐसे में मंदता ही खाली रह सकती है, चतुरता तो निहाल हो रही है। देखता हूँ यह, और यह भी कि स्वराज है। लेकिन चाहे तो अयोग्यता

ने मुझे आस्तिक कर दिया है, चाहे यह कहो कि आस्तिकता ने अयोग्य कर दिया है। जो हो, उधर अपना बस नहीं चलता है।

और याद आता है एक आदमी गांधी। खासा खाता-कमाता बैरिस्टर था। क्या सूझा जो बैरिस्टरी छोड़ दी। कमाई ही हमेशा के लिये छोड़ दी। था सो सब दे डाला। जैसे लंगर तोड़ नाव को भगवान भरोसे छोड़ दिया।

आदमी बैरिस्टर रह चुका था। अंग्रेज़ी जैसी हुकूमत की भाषा में मज़े का बोल और लिख लेता था। दलील में कमज़ोर न था। फिर यह क्या अनहोना हुआ कि सरकार का उसने मुकाबला किया और भगवान का सहारा लिया। इस दुर्घटना का आरंभ दक्षिण आफ्रिका में हुआ।

भारत आया तो यहाँ गांधी ने अपना अजब पंथ चलाया। कांग्रेस बड़े समझदारों की जमात थी। नामी गिरामी लोग उसमें हुआ करते थे। सरकार के हाथों कांग्रेस के ज़रिये वे अक्सर सर बना करते थे। गांधी ने वहाँ पहुँचकर गंगा उलटी बहाना शुरू की और सचमुच उस वक्त उसकी बेवकूफी लोगों के सिर भी चढ़ गई। कांग्रेस से लोग सरकार के ऊँचे ओहदों पर जाने के बजाय जेलखानों में पहुंचने लगे। कमाई और ओहदेदारी भूल गये। जिन्होंने उस ज़माने में भी कमाई को याद रखा, उनपर बोझ आया कि इन सिरफिरों को जिलाये ही नहीं, अपने सिर पर भी मानें। नेता वे बने जिन्होंने अपने घर को चौपट किया।

अच्छा है कि वह गांधी उठ गया और कांग्रेस को सही समझ आने का मौका मिल गया। कांग्रेस नेता अब उस गांधी की खामखयाली में नहीं हैं। भगवान का थोथा आसरा उन्होंने छोड़ दिया है। सरकार की मज़बूत चौखट पकड़ ली है। आइडियलिस्ट नहीं हैं, प्रैक्टिकल हैं। नैतिक और वायवी नहीं हैं। आर्थिक और वास्तविक हैं।

सच ही गांधी की बात तर्क से असिद्ध है। सोचिये कि ज़रूरत पर भगवान कहाँ से, कैसे, क्या भेज देगा? उसका कोई गोदाम है,

कारोबार है, कारिन्दे हैं ? बताइये, अपनी आप फिक्र न कीजियेगा तो भगवान वह कहाँ से आकर आपकी फिक्र कर लेगा ? लेकिन तब की कहते हैं जब गांधी अभी हिन्दुस्तान में आये ही थे, जमे न थे। अस्पृश्यता उन्हें समझ न चढ़ी और एक हरिजन बालिका को उन्होंने अपना बना लिया। इस पर पैसा आना बंद हो गया। खासी मंडली साथ थी। व्यवस्थापक ने बताया, पैसा खतम है, एक दो दिन भी चल जाय तो बहुत समझिये।

नशा ही कहना चाहिये यह कि गांधी पर उस कारण चिंता की रेखा भी नहीं पड़ी। कहा कि तैयारी करो, हरिजनों में चलकर रहना होगा।

कि लीजिये, अगले रोज़ कोई आते हैं और तेरह हजार रुपये वहां डाल जाते हैं ! कौन थे इसका पता ही नहीं चलता।

इन संयोगों को, अजी, तर्क तो नहीं कहा जा सकता। करिश्मों पर ज़िंदगी की बुनियाद रखना ग़लत नहीं तो क्या है। गांधी के रहते कुछ हुआ तो हुआ होगा, अब तो मिथ और मिथ्या है। और सुनिए रवीन्द्रनाथ ठाकुर थे न ? अब तो सरकार उनकी शताब्दी पर जाने क्या कुछ अपना धन मन नहीं बहा देने वाली है। पर एक समय था कि वह ऋण में घिर गये थे। बड़े ही परेशान। पैसे के सामने गिड़गिड़ा तक आये। पर पैसा अपनी धुन पर था, इन ठाकुर की तरफ मुड़ता तो क्यों मुड़ता। कविता ही तो करते थे। कौन सत्ता की शक्ति थी उनके पास कि पैसा झुकता। हां, पैसा परचेजिंग पावर अवश्य है। पर शायद रवीन्द्रनाथ शान्ति निकेतन को लेकर पैसा चाहते होंगे, बिकना न चाहते होंगे।

अस्तु, कविगुरु व्यथा में घुलें तो घुलते रहें। कर्ज़ का तकाज़ा सख्त होने लगा। आखिर मंडली को लेकर नाच नाटक दिखाने और रिझाकर पैसा जुटाने के लिये बेचारे निकले। अवस्था उस समय उनकी सत्तर के आसपास होगी। नोबुल पुरस्कार मिले बरसों बरस बीत चुके थे। कमर झुक आई थी।

दिल्ली मिले गांधी, तो रवि ठाकुर ने दुःख प्रकट किया। गांधी

ने कहा, "आप तो भगवान का काम कर रहे हैं। सो सब वह जानेगा, वह करेगा। आप क्यों चिंता लेते हैं।"

और अगले दिन साठ हज़ार रुपया ठाकुर के पास पहुँच गया। यह कथा तो सब जानते हैं।

पैसे से दुख का संबंध है, सुख का संबंध है। संबंध इसलिये है कि पुरुष का पदार्थ से संबंध है। पैसा पदार्थ का प्रतीक वाहन है। इसलिये जो लोग पैसे से उदासीन होते हैं, वह भूल करते हैं। पदार्थ उपभोग के नाते आवश्यक होने के लिये है, साधु तक के लिये वह आवश्यक होता है। इससे पैसे से अछूता कोई नहीं है।

क्यों पैसे का दुख है? इसलिये कि आवश्यकताएं हैं और वह चुभती हैं। उन्हें पूरा करने का साधन जो पैसा है सो दुख सुख देने की शक्ति उसमें अनायास आ जाती है।

किन्तु कमाई एक कला है। सब उसमें प्रवीण हों, यह संभव नहीं है। कुछ उस कला के विशेषज्ञ होंगे ही। पहले हमारी समाज की धारणा ऐसी ही थी कि उस वैश्य चित्त वृत्ति के लोग व्यवसाय के कर्त्तव्य क्षेत्र में रहें, अर्थ वहां संचित हो और वहां से सबकी आवश्यकताओं के प्रति अनायास बह कर जाता रहे। जिन प्रणालियों से धन एक जगह संचित होता था वे अर्थ और स्वार्थ की थीं; जिनसे उस अर्थ का वितरण, व्यय और उपयोग होता था वे प्रणालियां परमार्थ की हुआ करती थीं। अर्थ में परमार्थ की ओर उठने की ललक रहती थी। इस प्रकार न-कमाने की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति के प्रति आदरभाव संभव ही नहीं, सहज होता था। अब परमार्थ की प्रणालियां शनैः शनैः बंद हो रही हैं, तो ऐसा मालूम होता है कि रक्त का चक्र आधे शरीर में रुक गया है। इस कारण समाज-शरीर आधा अतिरिक्त गर्म और आधा अतिरिक्त ठंडा पड़ा जा रहा है। वेलफेयर के नाम पर स्टेट उन पारमार्थिक प्रणालियों को सही तौर पर स्वस्थ और जीवित रख सकती है, इसमें संदेह है। कारण वेलफेयर हो या कुछ हो, राज्य के अतरंग का मूल्य सत्ता का ममत्व है। उसके लिये प्रभुत्व परमार्थ बन आता है। इसलिये धन वितरण की

प्रणालियां उसकी ओर से कृपा की बन जाती हैं, धन्यता की नहीं रहतीं। और जान पड़ता है कि इस व्यवस्था से समाज का शरीर हरा भरा होने के बजाय गठिया से पीड़ित और रोग-जर्जर हुए बिना नहीं रहने वाला है।

अप्रैल, १९६०.

पैसे का सत्य

अच्छा है कि वह गांधी उठ गया और कांग्रेस को 'सही' समझ आने का मौका मिल गया। कांग्रेस नेता अब उस गांधी की खाम खयाली में नहीं हैं। भगवान का थोथा आसरा उन्होंने छोड़ दिया है। सरकार की मज़बूत चौखट उन्होंने पकड़ ली है। आइडियलिस्ट नहीं हैं, प्रैक्टिकल हैं। नैतिक और बायवी नहीं हैं। आर्थिक और वास्तविक हैं।

इधर तीन रोज़ से मैं बेहद परेशान हूँ। कारण, पैसा।

सोचता हूँ, पैसा दुःख का कारण कैसे हो सकता है या फिर सुख का। भगवान की ओर से तो बनकर आया नहीं है यह पैसा। जीवन अलबत्ता वहीं से बना है। फिर बात क्या है कि दुःख और सुख पैसे पर आ टिकता है।

यह सवाल बरसों बरस से मेरे साथ है। हल ज़रा भी नहीं हो पाता है। मैं आस्तिक हूँ और असत् की सत्ता नहीं मान सकता। पैसे में असत् देखता तो उसमें शक्ति नहीं मान पाता। शक्ति तो माननी ही होती है। इससे मेरे लिये तय है कि उसमें असत् नहीं देखूंगा। सत् देखने की ही कोशिश करूंगा।

तो वह क्या सत् और सत्य है जो पैसे को शक्ति देता है? शक्ति है, यह मानने के लिये तो कहीं दूर जाना नहीं है। खुद मुझ में उसका प्रमाण है। आस-पास चारों तरफ प्रमाण ही प्रमाण है।

पड़ौस के वकील साहब हज़ार रुपया रोज़ की फीस ले लेते हैं, तब कदम आगे रखते हैं। लालासाहब मिल पर मिल बनाते जा रहे हैं। पैसे की जरूरत नहीं है, फिर भी कुछ है जो उनमें करोड़ से आगे अब अरब चाहता है। कुंदन मेरे यहां तीस रुपये पर काम

'क्या मतलब ?'

'ऐसा मालूम होता है कि त्याग का आदर्श आप पर सवार है। उसी से फिर झगड़ा भी है। नहीं तो घबराहट क्यों ? ...लेकिन सच मानिए मैं त्याग का एकदम कायल नहीं हूँ । मैं उसमें बड़ाई देख नहीं पाता। मेरे अन्दर उसकी महिमा का भाव रंच मात्र नहीं है। मैंने कहा था कि गांधी-तत्व-विचार में मुझे न ले चलिये। गांधी की व्याख्या मैं नहीं दे सकूंगा। दूंगा तो हो सकता है वह गांधी की रह न जाय, मेरी हो जाय। गांधी का लोगों ने त्याग लिया, गांधी का लाभ किसने लिया। त्याग छिलका था, लाभ सार था। मैं नहीं मानता कि गांधी को उसने तनिक भी पाया है जिसने छिलका लिया है, सार फेंका है। अन्दर आनन्द का भाव नहीं है तो त्याग दम्भ है।'

सच यह कि प्रश्नकर्त्ता बंधु साधक व्यक्ति थे, सात्विक थे और आचरण के संबंध में तत्पर थे। कठोर आदर्श-वादी भी थे। लोकसेवा के कार्यों में रस लेते थे। वहीं से उनके मन में आलोड़न चला। आत्म से विपरीत समाज के तत्व की और समाजवादी की भाषा उनके मन में उतरी। समाजवादी साहित्य और उसकी चर्चा कानों पर आई। उनको साफ दिखाई दिया कि आत्म को जबकि ढूंढ़ने जाना होता है तब समाज तो समक्ष ही है। समाज से बचने के निमित्त से भी आत्म की शरण में प्रवृत्त हुआ जा सकता है। परिग्रह-अपरिग्रह, हिंसा-अहिंसा की बातें, उन्हें लगा कि, विवाद की हैं। विवाद में डाल कर प्रश्न को टाल दिया जाता है; ऐसे प्रश्न को कर्म का न रखकर विचार का बना दिया जाता है। बस विचार में उतर कर हम समस्या के सामाजिक दायित्व से और उस की तात्कालिकता से छुट्टी पा लेते हैं। यह सब उधेड़-बुन उन बंधु के मन में उठती थी और यद्यपि वह सात्विक-भावी और सेवाकर्मी थे, लेकिन विचारों में द्वंद्व पड़ने लगा था। फिर भी त्याग वह आधार था जिसपर उन्होंने अबतक के अपने जीवन की रचना की थी। बुद्धि में किंचित् विद्रोह शुरू हुआ हो, पर उनके संस्कारों में त्याग जड़

किये बैठा था। अतः उन्हें अच्छा नहीं लगा और बोले, हम संग्रह के महत्त्व को बढ़ा नहीं सकते। आप यह क्या कह रहे हैं ? संकट ही सारा यह है। सब अपने-अपने लिये चाहते हैं। राजनीतिकों में सबको मिनिस्ट्री चाहिये।। मिनिस्ट्रियाँ गिनती की हैं और इस-लिये संकट सदा सवार रहता है। समाज के क्षेत्र में भी सबको पैसा प्रतिष्ठा चाहिये। सो वहाँ भी दौड़-धूप, छीना-झपटी मची रहती है। यह परिस्थिति संभलेगी तो क्या तभी नहीं जब महत्व त्याग का होगा ? यह स्पर्धा और होड़, जो सबको एक दूसरे के खिलाफ डाल रही है, रहेगी तो लौकतन्त्र टिकनेवाला नहीं है। तब उस शासन को आना होगा जो डंडे के बल से लोगों को अनुशासन में रखेगा। यह डिक्टेटरी अवस्था मानव-जाति के लिये कलंक रूप होगी। ऊपर आतंक की छत्रछाया लेकर नीचे से मनुष्यता का विकास नहीं किया जा सकता। आतंक का राज्य, अर्थात् पशु का मूल्य। अब निश्चित है कि विकास ही क्रम है इतिहास का। हम पीछे नहीं लौट सकते। काल सदा आगे बढ़ता है। इसलिये प्रगति पुरुष की पशुता से उलटी चलेगी। छीन-झपट जंगल का नियम है। संग्रह को और संचय को हम बड़ाई देते हैं तो आपाधापी छीन-झपट का ही दृश्य समाज में न होगा तो और क्या होगा। आज वही दीखता है। त्याग और अपरिग्रह के मूल्य ही ऐसे समय हमारी रक्षा कर सकते हैं।

'ओह, आप तो त्याग के समर्थक निकले !'

'जी, लेकिन त्याग का रूप वह जो सामाजिक है। आध्यात्मिक त्याग नहीं, जिससे आदमी महात्मा बनता है, नागरिक नहीं रह जाता। आपका त्याग, महात्मा गांधी का त्याग ...'

'महात्मा गांधी को छोड़ दीजिये। वह यहाँ है नहीं। जीते और बैठे हम है और समस्या हमारी है। मैं एक ही त्याग को जानता हूँ। आत्मिक सामाजिक आदि वह कुछ नहीं है। त्याग हैं, यह तक हम याद नहीं रखते हैं। उसमें प्रयत्न नहीं होता। त्याग जैसा वह लगता ही नहीं। उसमें एक क्षण के लिये भी यह अवकाश नहीं हो पाता कि मानें

त्याग हम कर रहे हैं। उसके सिवा जो भी और त्याग है, मैं उसको समझ नहीं सकता। चाहे फिर वह समाज के लिये हो और सामाजिक हो या मुक्ति के लिये हो और आध्यात्मिक हो। वह सब वृथा है। क्योंकि वह होता नहीं है, आदमी करता है। जिसमें कर्तृत्व है, जिसमें है कि मैंने किया, तुम करो, वह त्याग एक क्षण के लिये मेरी समझ में नहीं बैठता है। उसमें से कोई हित, सामाजिक या आत्मिक, हो सकता है, यह मैं किसी तरह देख नहीं पाता हूँ।'

बात कुछ उलटी पड़ गई। अपेक्षा थी कि मैं त्याग की बातें कहूँगा। यह समझकर ही बन्धु ने प्रश्न और आपत्ति की थी। पर उन्हीं पर अब मानो त्याग की रक्षा का दायित्व आ पड़ा। प्राण-पग से उन्होंने वह रक्षा की और मैं प्रसन्न हुआ। कारण, त्याग जीवन में ऐसा गर्भित और अनिवार्य है कि उसका निवारण या खण्डन हो नहीं सकता। खण्डन तब होता है जब मंडन होता है। मुझे लगता है कि यदि त्याग का मंडन कम हो जाय तो सांसारिक के व्यवहार में उसका खंडन भी कुछ कम दिखाई दे जाय। महिमा इधर त्याग की बढ़ाते हैं, उधर अनायास बढ़ती दीखती संग्रह की है।

सच यह कि त्याग कोई स्वतन्त्र तत्व नहीं है। वह व्यवहार में गर्भित है। जीवन का कोई व्यापार देखिये। हर तरह के देन-लेन में आप उसे पा जाइयेगा।

मेरे कमरे में मान लीजिये मेज आई है जिसका सौ रुपया मूल्य है। मुझे संतोष है कि मेज कमरे में हो गई। कब से सोचता था कि मेज़ होनी चाहिये। मेज़ आई और इस आने में सौ रुपये गये। यानी, सौ रुपये का मैंने त्याग किया।

उधर उन व्यापारी के यहाँ से मेज़ गई, सौ रुपये आये। उनको भी संतोष है। उन्हें त्याग मेज़ का करना हुआ।

यहां किसी को इसकी अटक नहीं है कि क्या गया, खुशी इसकी है कि क्या आया। मेज़ जाने का उन्हें रंज नहीं, सौ जाने का मुझे दुख नहीं। दोनों में से किसी को पता नहीं कि यह उन्होंने त्याग किया है। मैंने सौ रुपये त्यागे, क्योंकि वह मेरे लिये कम थे,

मेज़ का उपयोग उनसे ज्यादा था । व्यवसायी महोदय ने मेज़ अपनी दूकान से निकाल दी, क्योंकि सौ रुपये का मूल्य उनके लिये अधिक था ।

अब दोनों ओर त्याग है कि नहीं ! पर महिमा की बात क्या है ? यदि मैं मेज की बात की चर्चा करूँ और कहता फिरूँ कि सौ रुपये दिये थे मैंने, अजी सौ रुपये, तो मेरा हल्कापन ही इसमें प्रकट होगा । इसी तरह दूकानदार अगर मुझ पर अहसान गांठे कि लिये मैंने सिर्फ सौ रुपये ही हैं, पर देखिये न क्या चीज आपको दी है, तो यह उसका दावा ही उसे हलका बनायेगा । त्याग का महत्व इस तरह एक हल्कापन पैदा करता है ।

अपनी-अपनी रुचि है । मुझे मेज चाहिये थी, उसे पैसा चाहिए था । जो कम चाहिए उसे हम छोड़ते हैं, अधिक चाहिये उसे लेते हैं । जीवन अन्यथा सम्भव नहीं बन सकता । छोड़ें नहीं तो हम ले नहीं सकते, दें नहीं तो पा नहीं सकते । यह जीने की अनिवार्य प्रक्रिया है । प्रति क्षण श्वास-प्रश्वास लेते हैं, यानी हवा लेते और निकालते हैं । निकालते तब हैं जब उस ली हुई हवा में से अपना प्राप्य प्राप्त कर लेते हैं । शेष को उच्छिष्ट की भाँति त्याग देते हैं । दिन में क्या हमें पता भी रहता है कि हमने कितने सांस लिये ? मूर्खता ही होगी कि एक सांस को तोलकर आदमी हिसाब से चौबीस घंटे के बाद गर्व से बखान करें कि दस हजार सांसों का त्याग हुआ ! मूर्खता इसलिये होगी कि सब जानते हैं कि त्याग बिना लाभ के होता ही नहीं है । निश्चय है कि जिसने जितना त्याग किया है उसने उतना ही लाभ लिया है ।

लाभ जिसने पाया नहीं, वही अभागा है जो त्याग का महत्व दिखाता है । सामाजिक वातावरण में जितना त्याग का महत्व डाला जाता है, उतना ही देखते हैं पदार्थ का महत्व बढ़ता है । उसने इतना त्याग किया—मान लीजिये दस हजार रुपया, या बीस हजार का मकान, या उसी रकम का और कुछ सामान । तो महिमा के केन्द्र में रुपया, मकान और सामान आ जाता है । उससे बढ़कर जो देनेवाले

ने वस्तु पाई होगी वह विचार से बाहर छूट जाती है। यदि दान सच्चा है तो हम मान लें कि उस भौतिक पदार्थ के तोल से जो दिया गया, वह आत्मिक सुख बढ़कर है जो लिया गया।

हमें पता नहीं है, लेकिन त्याग और दान की महिमा गाने से हमारा अनिष्ट अधिक हो रहा है। लोग उस त्याग और दान को अपने शरीर पर और हथेली पर लेकर दिखाते हैं और भीतर से दीन और दरिद्र बने रह जाते हैं। वस्तु को छोड़ने की सार्थकता कम नहीं है; लेकिन वह सार्थकता इसमें है कि उस प्रकार चैतन्य का हमें लाभ होता है। लाभ ही प्रधान है, वस्तु का छोड़ना तो निरा अनुषंगिक है।

सत्पुरुष, संत और महात्मा आते हैं और हम देखते दिखाते हैं कि उन्होंने कितना त्याग किया। त्याग करके जो पाया उसे न देखना चाहते हैं, न दिखाना चाहते हैं। इसलिये उनकी नकल में कोरम-कोर वस्तु तो हमसे छूटती है, कोई बड़ी तृप्ति नहीं प्राप्त होती। परिणाम में हमें ऐसे नमूने प्राप्त होते हैं जो त्यागी हैं और तपस्वी हैं, पर चिड़चिड़े और अनुदार हैं। त्याग ऊपर उजागर है, इससे तृष्णा भीतर होकर सिर्फ ढँकी है। वस्तु-त्याग में से आत्म-लाभ उन्हें मिला होता तो त्याग कहीं आस-पास झलकता भी नहीं, उनके चेहरे पर से और चरित्र में से आत्मलाभ की ही किरणें विकीर्ण हुआ करतीं। तब त्यागी पुरुष तृप्त, प्रसन्न और आत्मवान पुरुष दिखाई देता और उसमें से प्रेरणा का प्रकाश मिलता। पर यदि वैसा नहीं है, शुष्कता और निःस्सत्वता उस क्षेत्र में अधिक दिखाई देती है, तो शायद कारण यह भी है कि हमने महत्व ऋणात्मक को दिया है धनात्मक को ओझल रखा है।

व्यापार का सीधा नियम है कि लाख डालते हैं तो करोड़ कमाते हैं। अधिक के लिये थोड़ा छोड़ते हैं। बाजार के वस्तु-व्यापार का ही नियम हो सो नहीं, गंभीर जीवन व्यापार का भी नियम इससे दूसरा नहीं है। और यह सच है कि जिसे सच पाना है, उसे झूठ छोड़ना है। आत्मा को पाना है, तो वस्तु को छोड़ना है; समाज को पाना

है तो अपने को छोड़ना है। जीवन के उत्कर्ष के साथ हमारी लाभ की धारणा भी उठती ही जायगी और वह स्थूल से सूक्ष्म होगी। प्रगतिशील जीवन का यह सहज धर्म दीखेगा। तब जान पड़ेगा कि धन का सार मन है और मन को रखने के लिये धन को छोड़ना प्रिय होता है।

यहाँ सामाजिक और आध्यात्मिक दो रह नहीं जाते। जीवन विभक्त है ही नहीं। जो एक जगह सच है, सब जगह वही सच है। त्याग का उपदेश हो कैसे सकता है जबकि त्याग फल है भीतर की विवशता का। फल पकने पर डाल पर रहे तो कैसे रहे ? पानी भरे बादल में से गिरे नहीं, तो वहाँ थमे कैसे ? मन भरता है तो आँसू ढरता हैं। त्याग अतः भराव में से न आये, यह हो नहीं सकता। उसी तरह यह भी कैसे हो सकता है कि भीतर अभाव हो तो वहां से त्याग बाहर आ जाय। लाभ की भाषा में जब हम त्याग को बताते नहीं हैं तो यही अकाण्ड घटित होता है। गांधी जितनी घुटने तक की धोती चल जाती है, आत्मा तो महात्मा नहीं होती। तब त्याग ही तरकीब के साथ तृष्णा का आयुध बन जाता है।

मई, १९६०.

साधु और समाज सत्ता

कुछ सैकड़ा वर्षों की है यह आधुनिक कही जानेवाली सामाजिक पद्धति। भारतीयता हज़ारों वर्षों से टिकी चली आई है। नाना उत्पात, उपद्रव और झंझावात उसने झेले हैं। पर नींव उसकी डिगी नहीं है। इस नये झोंके में वह व्यवस्था टूट जायगी, या बुनियाद उसकी झूठी साबित होगी, यह मानने का कोई कारण नहीं है।

कुछ बन्धु हैं जो समाज में सुधार-वादी बनकर रहना पसन्द करते हैं। इस समुदाय के सभी सदस्य अच्छे कारोबारी हैं और खुशहाल हैं। वाद उन्हें प्रिय है, और सुधार उन्हें प्रिय है। उनके पास नारा है, झंडा है, और वह समाज-क्रांति और समाज-सुधार का है। नारे का शोर कम हो और उनका झंडा समाज के शीर्ष पर सबसे ऊँचा फहराता न दीखे तो इसमें उन्हें अपना गौरव कम हुआ जान पड़ता है।

इन बन्धुओं को एक बड़ी चिढ़ है। वह चिढ़ है साधु से और धर्म से। धर्मवाली चिढ़ को तो छोड़ दीजिये, क्यों कि कहीं वह ठीक जाकर बैंठती नहीं है। मूर्ति, स्थान, मत, व्यक्ति से धर्म घिरा नहीं रहता, वह अमूर्त भी रहता है। लेकिन साधु की चिढ़ में आसानी से नोक बन जाती है, क्योंकि साधु सामने चलते-फिरते दिखाई देते हैं। वे अमूर्त नहीं हैं, बल्कि अधिक ही प्रत्यक्ष हैं। वेष-परिवेष उनका अधिकांश रंगा होता है और दूर तक से दीखता है। कहीं वह रंगा नहीं भी होता, पर अलग दीखने लायक अवश्य होता है। इसमें नये गांधी-पंथी साधु को भी सम्मिलित समझिए, उसकी चाल-ढाल भी नियुक्त है जैसी कि और साधुओं की होती है।

ऊपर का यह सुसंस्कृत, सुसम्पन्न और सुबुद्धिवादी समुदाय सुख से है। बस, साधु की शक्ल उसे दुख देती है।

सच भी है। साधु अपने वेष-परिवेष से ही समाज के आगे एक प्रश्न चिन्ह की भांति हो आता है। दुनिया काम कर रही है, आपका न-करना ही काम है। वह कमा रही और इज्जत पर मर रही है, आप दर-दर भीख माँगते लजाते नहीं हैं। कितनी हौंस-हबिस से लोग अपना ठौर-ठिकाना बाँधते हैं, आप ठाठ से बेठौर बेठिकाने हैं। सबको अपनी-अपनी चिंता है, आप अलमस्त हैं। अपनी नहीं है, चिंता हो तो औरों की भले हो। उन्हें सगा-पराया नहीं है, नाता-नेह नहीं है। घूमते रहते हैं और सम्बन्ध में कोई घनता या लगाव नहीं कहीं आने दे सकते। रिश्ता गाढ़ा बना तो वासना कहकर आप उससे दूर भागते हैं। इस तरह समाज से कुछ ऊपर और बाहर, अलग और थलग रहकर आप अपने को निबाहते हैं। भोजन जहाँ जैसा पा गया ठीक। औरों की दो दुःख की बातें सुनी, दो सीख की बातें कहीं, और चले आगे। ऐसे आप जाने क्या पाने की टोह में निरन्तर चलते ही रहते हैं!

यह परिव्राजक प्राणी निश्चय ही समाज के लिये एक सवाल बन आता है। वह मानो हमारे आगे स्थायी प्रश्नवाचक है। राज्य के लिये वह असुविधा का कारण हो सकता है। वह बालिग ही नहीं अनुभवी और बुद्धिशाली होता है, फिर भी वोटर नहीं होता। न कर देता है, न कृपा लेता है। एकदम गिनती से अपने को वह बाहर किए रहता है, कह दीजिए नगण्य। मर्दुमशुमारी में भले शुमार हो, पर अपने विधि-विधान में उसकी आप शुमार नहीं कर सकते। नागरिकता से वह बाहर है; उसके न अधिकार माँगता है, न कर्तव्य ओढ़ता है।

इस अनोखे प्राणी की हमारे भारत में सदा समुचित संख्या रही है। इतना ही नहीं, भारत उसके आगे शीष भी झुकाता रहा है। इतिहास में जिसको भारत ने महान करके माना और सदा के लिये हृदय पर धारण किया, जान पड़ा कि उसने इसी नीति-रीति को अपनाया है और फिर उसी को बढ़ाया है। सैकड़ों-हजारों की संख्या में ऐसे लोग खड़े कर दिये हैं जो घरबार की चिंता से अपने को तोड़ कर

जाने किस अपर चिंता के नाम पर बाहर आ गये हैं। वे फिर संसार से कुछ नहीं माँगते। तन पोषण के निमित्त जो मिल जाय ले रहते हैं और उतने के लिये संसार के प्रति आशीर्वाद से भरे रहते हैं।

अपने यहाँ समाज चार वर्णों से बना बताया गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र। चार नहीं अधिक मान लीजिये। जीवन जटिल हो गया है, स्तर और वर्ग बढ़ गए हैं, तो चलिये संख्या दो-चार अधिक ठहरा लीजिये। लेकिन यह साधु समाज किसी वर्ग और स्तर में नहीं आता है। वहाँ वर्ण रहता नहीं। वह चतुर्वर्णातीत है। साधु में सभी वर्ण एक समान हैं। पूर्वाश्रम तक वहाँ टिकता नहीं। ब्राह्मणत्व और शूद्रत्व इधर ही रह जाता है, साधु तक नहीं पहुँच पाता।

वर्ण ये चार समाज के हुए। फिर जीवन के चार आश्रम गिनाये गए हैं। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यस्त। पहले तीन समाज के वित्त में आ जाते हैं। लेकिन जीवन का चौथा आश्रम जैसे समाज के वृत्त से बाहर हो जाने पर आरम्भ होता है।

जीवन और समाज की यह आर्य और आर्ष कल्पना मुझे बहुत उपयुक्त जान पड़ती है। कारण, समाज में जीवन सचमुच समाप्त नहीं है; जीवन यात्रा का इष्ट पार है। यात्रा समाज में से चलती है, पर इष्ट तीर्थ का प्रतिष्ठान और भी आगे रहता है, प्रगति का ध्रुव वही हो सकता है। संन्यासी वह यात्री है जिसकी अभिलाषा समाज से पार हो आए। न उसे अब समाज की मान्यता चाहिये, न सत्ता चाहिये। समाज की अवज्ञा भी अब उससे नीचे रह जाती है। मानापमान संसारी के लिये बहुत ही महत्व की बात है, संन्यासी को वह छूता भी नहीं है।

अर्थात्, सामाजिक लक्ष और आध्यात्मिक लक्ष एक नहीं हैं। सामाजिक लक्ष उपयोगिता की परिभाषा में बनता है। उपयोगिता पारस्परिक वस्तु है। समाज की भाषा ही परस्परता की है। लेकिन जीवन परलक्षी हो नहीं सकता, आत्मलक्षी होकर ही उसमें दृढ़ता और दिशा आती है। वैसा कुछ लक्ष न हो तो अनेक स्वार्थों को

लेकर संसार में जो जाल बनता है, व्यक्ति के लिये वह जंजाल हो आता है। तब उसमें से तैरा नहीं जा सकता, उसे पार नहीं किया जा सकता। फंसकर उसमें अकुलाते ही रहा जा सकता है। स्वयं का भी स्वार्थ हो तो स्वार्थों का गोरखधंधा हमसे कैसे सुलट सकता है। तब गांठ उलझे और हमें उलझायेगी ही। उस ग्रंथि के लिये यों देखें तो अनुपयोगी वह नहीं रहता बल्कि अधिक उपयोगी हो जाता है, जो स्वार्थ से सर्वथा छूटता है। लेकिन स्पष्ट ही ऐसा व्यक्ति ग्रंथि का अंग नहीं होता, वह 'कन्सर्न्ड पार्टी' नहीं रहता। इससे संसार विग्रह के लिये यों संन्यासी को हम अनावश्यक भी कह सकते हैं, पर वर्णों में, वर्गों में, और इस तरह समाज में, यदि संतुलन और सामंजस्य की आवश्यकता हो तो यही उत्तीर्ण व्यक्ति है जो शरण स्थल सिद्ध हो सकता है।

इसी से भारतीय संस्कृति ने चतुरवर्णात्मक समाज की कल्पना की तो संन्यासी को बाहर रखकर भी उसे शीर्ष पर रखा। अर्थात् व्यवस्था और विधान से अवश्य बाहर था वह संन्यासी, पर हित और उपयोग के लिये तो वह उस कारण समाज के प्रति अधिक निकट और समर्थ हो आता था। तभी समाज को उसका सत्कार और अभिवंदन प्रिय रहता था।

आज भारतीय समाज कुछ हिल रहा है। कारण दिये जा सकते हैं ऐतिहासिक और अन्य। विज्ञान की बात कही जा सकती है और औद्योगिक क्रांति की। उस सबमें यहाँ नहीं जाना है। सच अवश्य है कि समाज का ढ़ांचा हिल रहा है। भाषा है कि इकौनोमी बदल रही है, कृषिमूलक नहीं उद्योगमूलक हो रही है। जीवन केन्द्रित होता जा रहा है, क्योंकि द्रुतता होने के साथ केन्द्रितता को बचाया नहीं जा सकता। आदि-आदि वाद व्याख्या देने और मन रखने को हैं। पर यह मानना कि भारतीय समाज को अभारतीय होकर ही रहना होगा, मानना कि भारतीय जीवन-पद्धति की संभावनाओं का अन्त आ गया है, अधीर और अविश्वासी बन बैठना है। कुछ सैकड़ा वर्षों की है यह आधुनिक कही जानेवाली समाज

पद्धति। भारतीयता हजारों वर्षों से टिकी चली आई है। नाना उत्पात, उपद्रव और झंझावात उसने झेले हैं। पर नींव उसकी डिगी नहीं है। इस नये झोंके में वह व्यवस्था टूट जायगी, या बुनियाद झूठी साबित होगी, यह मानने का कोई कारण नहीं है।

जो अपने को उपयोगी और कारबारी गिनते हैं, जो सभा-समाज-संगठन के कृत्यों में सचेष्ट और कृतिशील रहते हैं, ऐसे लोक-कर्मी और राजकर्मी जन अपने धन और पद का मद भी रख सकते हैं। उस मद में भारत के इस सनातन साधु को दाग दे कर वे कह सकते हैं कि वह अनुत्पादक और अनुपयोगी है। पर उनका भ्रम है। भ्रम इसलिये कि सकर्मक उत्पादक और उपभोक्ता बनने की कोशिश में सभी यदि लग जाते हैं तो राग-द्वेष और वैर-विग्रह का वह तीव्र फेन और विष फलित होता है कि जिसको अपना भोग बनाकर पीनेवाला फिर कोई बच नहीं जाता है। ऐसे कर्म और राज्य की सर्वोपरि सत्ता आ बनती है और उससे युद्ध अपरिहार्य और अनिवार्य बनता है।

जमाना बहुत नहीं बीता है और उस स्वर्गस्थ गांधी को हम राष्ट्र-पिता भी कहते हैं। अच्छा-खासा बैरिस्टर था। काम-धंधा, घर-गृहस्थी छोड़ वह बना तो क्या बना ? अभिलाषा ही रही कि वह किसान और जुलाहा बने, लेकिन बन वह महात्मा गया। बदन नंगा हो रहा। काम सब उसके लिये बस एक सत्य का साक्षात्कार हो गया। मानो यह अकर्म ही उसका कर्म था। और देखा गया कि उसी गांधी से भारतीय समाज को खोई राष्ट्रता मिलती है और राष्ट्र को स्वतन्त्रता मिल आती है।

क्या किया था गांधी ने ? असल जादू था उसका यह कि जीविका के सवाल को उसने अपनी एक फूँक से आदमी के सामने से उड़ा दिया था। यह सवाल घेरे रहता है हर दिमाग को। जीवन-भर आदमी उसी में चकराता चला जाता है। जैसे जीना भंवराना हो, तैरना न हो। गांधी को देखकर लाखों की संख्या में लोग निकल आये जिन्हें अपनी फिक्र न थी और कल का ध्यान न था।

जिन्होंने आज को लिया और उसी पर अपने को झोंक दिया। जिन्हें बलिदान ही भोग हो गया। गांधी से मानो जो साधना साधु की होती है, वह देश की साधना बन गई। जीवन जो मंद था उमंग से भर आया। सेतने और पोसने की जगह अपने जीवन को निछावर करने में धन्यता अनुभव हो आई।

गांधी के दान को और काम को समझेंगे तो मालूम होगा कि वह मूलतः यही था। व्यक्ति को स्व-अर्थ से और स्व-कर्म से उठाकर उसने परम-अर्थ और परम-कर्तव्य में प्रतिष्ठित किया। मानव ने अनुभव किया कि इसी में उसकी स्वभाव पूर्ति है। स्वार्थी उससे सन्यासी हो आया और जगत्-कर्मी ने इस सन्यस्त-कर्मी अथवा सेवा-कर्मी को मस्तक झुकाने में अपना गौरव माना।

क्रांति थी यह मूल की, मूल्य की क्रांति। अब वह मिटी-सी जान पड़ती है। औद्योगिक इकोनोमिक आदि-आदि तर्क सर्वथा वृथा हैं। सच यह कि जब हम भारतीय व्यवस्था को अपर्याप्त और पुरातन मानकर नये बहाव को स्वीकार करते हैं तो अपनी मूल्य-निष्ठा की त्रुटि को ही प्रकट करते हैं। संकट उस कारण है। आर्थिक आदि कारणों से उतना नहीं।

तो यह जो साधु है, जो करता नहीं दीखता, वरन् भावना और प्रार्थना में ही अधिक दीखता है, हमारी ओर की एक लांछना का ही पात्र नहीं है। समाज के नेता प्रतिनिधि बनकर उपयोगिता के नाम पर जो इस साधु को दुरदुरा ही सकते हैं वे अपनेपन के नशे में भूलते ही हैं। अपनेपन से तनिक उबरेंगे तो पायेंगे कि वह साधु न केवल व्यर्थ नहीं है, बल्कि कदाचित स्वयं उनसे अधिक उपयोगी हैं। उन्हें पता नहीं है कि उनकी धन की संपन्नता शायद नीचे के स्तरों पर भारी पड़कर उन्हें दबाए रख रही है। पता नहीं है इसी से वे आत्म-तुष्ट हैं और इसी कारण तर्क-तीव्र। अपनी जगह पर आराम से हैं, इसलिये आलोचना की उन्हें पूरी सुविधा है। साधु के पास वह सब नहीं है। वह ऊपर यदि है तो उनके ऊपर है जो स्वयं उन्हें ऊपर लेकर अपने को कृतार्थ मानते हैं। अन्यथा साधु तो सबसे

नीचे ही हैं। भला उससे बढ़कर कौन सर्वहारा है !

प्रत्येक महापुरुष ने अपने लिये यही स्थिति और यही स्थान स्वीकार किया है। स्वत्व मात्र से छुट्टी पाई है और अपने अधीन कुछ रखना नहीं चाहा है। वह भिक्षुक बना और सेवक बना है। जीवन उसने सरल से सरल बनाया है और सर्वथा बे-पैसा। इसी आस्था और दीक्षा में उसने अनेकों को दीक्षित किया, सिखाया कि आवश्यकता से तनिक अधिक न लो और आवश्यकता को कम से कम रखो। फिर जो है तुम्हारे पास, सब देते और लुटाते घूमते रहो। सम्यक् दर्शन का धन, सद्ज्ञान का धन, सद्भाव का धन। वह धन लेने से बढ़ता है, देने से भी बढ़ता है। न उसके लेने में संकोच करो, न देने में कृपण बनो। इसी पंक्ति के मनुष्य को कहा गया, साधु।

आज विनोबा ने पुकार दी है कि आधार छोड़ दो, और सब जनाधारित निर्वाह करो। सब समय सबको दो और अपने तन के लिये जो सब दें उस पर गुजारा करो।

किन्तु लोकतंत्र में सत्ता का इतना बड़ा जो भीम भीषण यंत्र खड़ा है, वह भी अपने को जनाधारित जताता है ! उसका बजट अरबों-खरबों को पार कर जाने कहाँ पहुँचना चाह रहा है। सब यह जनाधारित ही है, क्योंकि जन जब जन-सागर होता है तो उस शक्ति का पार नहीं रहता। इसलिये जनाधारित आधार ही सबसे दृढ़ और गहरा है, इसमें संदेह नहीं है।

लेकिन सत्ता और साधु दो हैं। वे विपरीत तक हैं। दोनों कुछ अपने लिए नहीं करते हैं, केवल बताते और व्यवस्था देते हैं। दोनों जनाधारित हैं।

तो फिर ? यह फिर सोचेंगे।

मई, १९६०.

नवाब और आदर्श

खण्ड ७

नवाब और आदर्श

यथार्थवाद का एक दौर आया। कुछ ऊपरवालों ने चाहा और इसका इन्तजाम हुआ। सबसे ज्यादा इसके वार की जरूरत वहाँ हुई जहाँ आदर्शवाद की जगह थी। आदर्श की जिन्हें रक्षा करनी थी, उन्हें बताया गया कि वह रक्षा की नहीं खतम कर डालने की चीज़ है। आदर्श जहर है, वह बेईमानी है। ईमानदारी यथार्थ से इधर-उधर जा नहीं सकती।

एक नवाब साहब बड़ी धुन और लगन के आदमी थे। उन्हें ख्याल हुआ कि सब कुछ जमीन से पैदा होता है। फल-फूल, गल्ला, मेवा। इसलिये उन्होंने वजीर को बुलाया और पूछा—बता सकते हो मैना क्यों उड़ती है?

वजीरे आला ने दाढ़ी पर हाथ फेरा और कुछ सोचते रह गये। होशियार आदमी थे और बात का रुख देखा करते थे। सोचकर बोले—आपकी इजाजत है, उड़ लेती है। नहीं तो कैसे उड़ सकती है।

'सही कहते हो!'

'हाँ हुजूर। हुक्म हो तो मैना का उड़ना बन्द हो सकता है।'

'सुनो,' नवाब साहब ने फरमाया 'आसमान एकदम खाली है। पैदा सब जमीन से होता है। अब अगर मैना उड़ती है तो क्यों न माना जाय कि यह उसकी बददयानती है।'

'बजा फरमाते हैं हुजूर!'

'हमारा ख्याल है कि जमीन की पैदावार बढ़नी चाहिये। मैना और दूसरे खूबसूरत परिन्द हमारे बागों में फूलों के साथ खिलें, वहाँ फुदकें, चहचहायें, चमन को गुलजार करें। यह क्या कि आस-

मान में उड़ते-फिरते हैं। इससे कोई फायदा नहीं। क्या कहते हो, फायदा है ?'

'जी नहीं।'

'तो इसका इन्तजाम करो। खूबसूरती मुफीद होनी चाहिए।'

इन्तजाम हो गया। अब आकाश साफ था। पक्षी होंगे तो वहाँ नहीं जा पाते थे।

ऐसे एक जमाना गुजर गया। नवाब साहब एक दफा सोच में बैठे थे। हुक्म हुआ, वजीर को बुलाया जाय। आने पर वजीर से कहा—यह क्या हम सुनते हैं कि हमारी हुकूमत में किसी को ताब नहीं है कि आसमान में परवाज कर सके। तुम से कहा गया था कि हम किसी कौम से पीछे रहना नहीं चाहते हैं। यह शर्म की बात है कि बुलन्दपरवाजी में हम पीछे माने जायँ। हमारे परिन्दों को क्या हुआ है ?

'हुजूर, चमन में चहचहाते और फुदकते हैं—'

'आसमान में नहीं जा सकते ?'

'जमीन को रौनक बख्शने का फर्ज अदा करते हैं।'

नवाब साहब नाराज हुए, बोले—फूल बाग में होता है, फल बाग में हो सकता है। दरख्त वहाँ हुआ करता है। वह कौन जाहिल है जो परिन्दों को वहाँ कैद रखना चाहता है। वह उड़ने के लिए है। आखिर पर और पंख उसे किस लिए अता फरमाये गये हैं।

धीमे से वजीर ने कहा—जी, वह नहीं हैं।

'क्या कहते हो !' नवाब ने तैश में कहा—'वे क्या हुए ?'

'हुजूर, पहले हुआ करते थे। वह जमाना कदीम था। फिर पर कतर दिये गये और उनकी एकदम मुमानियत हो गई। इस तरह उनका उड़ना बन्द हो गया। परिन्द अब उन पर शरमाते हैं।'

नवाब साहब ने कहा—'तुम बरखास्त किये जाते हो !'

वजीर हट गये। लेकिन राजा का आसमान वीरान है। क्योंकि

पर नये आने में वक्त लगता है। और नवाब साहब परेशान हैं कि क्यों कर इस मामले में और मुल्कों के बराबर पहुँचें और परेशानी से बचें!

· · · यथार्थवाद का एक दौर आया। कुछ ऊपरवालों ने चाहा और इसका इन्तजाम हुआ। सबसे ज्यादा इसके वार की जरूरत वहाँ हुई जहाँ आदर्शवाद की जगह थी। आदर्श की जिन्हें रक्षा करनी थी, उन्हें बताया गया कि वह रक्षा की नहीं खतम कर डालने की चीज है। आदर्श जहर है। वह बेईमानी है। ईमानदारी यथार्थ से इधर-उधर जा नहीं सकती।

इन्तजाम पूरे तरीके के साथ किया गया। यहाँ तक कि ईमान के सबूत के तौर पर जरूरी समझा जाने लगा कि लिखनेवाले के लिखने में यथार्थ जरूर सतह पर झलके। यथार्थ से अधिक उसका वाद झलके। यथार्थ फूहड़ हो सकता है, घिनौना और वीभत्स हो सकता है। वह सब चल सकेगा। जो चीज नहीं होने दी जायगी वह आदर्श। क्योंकि आदर्श एक फरेब है, वह बहकाता है। तबीयत को कुछ चैन और सकून देता मालूम होता है। जरूरत जिसकी है वह है बेदारी और बदअमनी। मीठा स्वाद गलत , क्योंकि जरूरत कड़वाहट की है।

और यह दौर इस कदर चला कि जो रंग पर न चढ़ सका वह अपने पर शर्मिन्दा हुआ। पंख रखने पर रेंगना आसान नहीं है। उस काम के लिए बदन की बनावट दूसरी चाहिए। मुमकिन हो सकता है कि दोनों हाथों से भी पाँवों का काम लिया जा सके और इस तरह चारों पाँवों को जमीन पर टेककर चला जाय। पर आदमी जो सीधा चलना सीख गया है, इसलिए जिसके दो हाथ तरह तरह की कुशलता पा गये हैं, उसे उन हाथों को पाँव बनाकर चलने में जोर पड़ता है। आदमी के लिए आसान नहीं हो पाता चौपाया बनना। पर इससे आगे सारे तन को धरती पर लगा कर रेंग पाना तो और भी उसके बस का काम नहीं है। लेकिन वजीर के पास हुक्म आया तो उसके बाद कारकुनों का काम हो गया कि करतब दिखायें। तब

मानो प्रचारित हुआ कि आदमियत इसमें है कि रेंगा जा सके। लोग प्रदर्शन करने लगे कि कैसे सफलतापूर्वक और गौरवपूर्वक यह किया जा सकता है। यह प्रचार की कुशलता और महिमा थी।

लेकिन इधर कारकुनों और वजीरों से ऊपर नवाबी तल पर कुछ और ही सोचा जाने लगा। वहाँ मालूम हुआ कि आदमी के लिए रेंगने से चलना अधिक स्वाभाविक है। गति भी उसमें अधिक होती है। इसलिए जब अपने मुल्क की प्रगति का नाप वे नवाबी तल के लोग लेने लगे तो मालूम हुआ कि वह तो ठीक नहीं हुआ। पालिसी बदलने की आवश्यकता है।

यथार्थवाद का मार्ग खुला, तो हम धड़ाधड़ बढ़ते ही गये। तनिक बाद मालूम हुआ कि जहाँ आ लगे हैं, वह प्रकृतिवाद तो कहीं नहीं है। क्योंकि इतना नंगा और फूहड़ लिखा जायगा, यह तो नहीं सोचा था। इसलिए रोकथाम शुरू हुई। बन्धन जो पहले गलत माने गये और जिनका तोड़ना कर्त्तव्य माना गया था वे पवित्र बताये जाने लगे। विदित हुआ कि प्रगति वह है जो नैतिक है। विवाह और परिवार मर्यादा की संस्थाएँ हैं और उनका संरक्षण प्रगति का बड़ा लक्षण है। तख्ता ही पलट गया। प्रगति के नाम पर यथार्थ, और यथार्थ के नाम पर प्रकृत जो चला तो सहसा लगाम खींचना जरूरी हुआ।

अब शुक्र है कि प्रगति की धूमधाम नहीं है। पर कल्पना के पर जो काट डाले थे सो नये आने में समय लग सकता है।

मैं अपनी जानता हूँ। लेकिन मैं औरौं से अलग थोड़े ही हूँ। आदमी के यंत्र की गढ़न सब जगह एक सी ही है। कल्पना उससे छूट नहीं सकती। कैसे हो सकता है कि वह सपने न ले। वर्त्तमान में वह बन्द और समाप्त हो नहीं पाता। स्मृति-ज्ञान से पीछे अतीत से नाता जोड़ता है और कल्पना और भावना के सहारे अनागत और आगामी से भी वह जुड़ा रहता है। ऐसे सीमा में रहकर वह असीम है। अनंत उसमें है और अमर उसमें है। यही उसकी सार्थकता है, अन्यथा वह व्यर्थ होता है। आदर्श पर केवल अपना कब्जा

जमाकर दूसरे को उधर से असावधान जो करना चाहते हैं सो यह उनका दंभ है। जिस बिरते वे मानवता को अमुक दिशा देने का दावा करते हैं वह चीज दूसरों के लिए भी उतनी ही जरूरी है। वे निश्चय ही अपने पास कोई आदर्श रखते हैं, तो सबके लिए क्यों न छूट हो, बल्कि क्यों न जरूरी हो, कि वे भी अपने आदर्श रखें। उसकी लगन रखें, उसका प्रकाश दें और उसे आचरण में लें। यदि यह आदर्शवाद आदमी के पास नहीं रहने दिया जाता है तो वह घुँट जायगा। और आदमी को घोटकर अपना काम निकालने की राह सच्ची नहीं है।

जनवरी ,१९६०.

ज्ञान और सृष्टि

विभक्त मानसिकता में से बने हुए मनमाने आदर्शों के नाम पर कुछ साधना करते हुए जो निस्तेज, निष्प्राण और खण्डित व्यक्तियों के नमूने नीति और धर्म के क्षेत्र में देखने में आते हैं सो अधिकांश इसी कारण कि उनकी बफादारी जीवन और जगत् के प्रति न होकर सिद्धांतों के प्रति हो आती है।...

प्लेन चला जा रहा था कि कप्तान ने सूचना दी—अब हम भू-मध्य रेखा पार कर रहे हैं।

भूमध्य रेखा ! जरूर गहरी खाई-सी होगी, वह जो धरती को आधोंआध बीच से काटती है !

हमारे विज्ञ बन्धु ने नीचे आँख फैलाकर देखा। सागर यहाँ से वहाँ तक नीला क्या मटमैला दीखता था। देखा, देखते रहे, देखते रहे। पाँच-दस-पन्द्रह-बीस मिनट हो गये। निगाह हटाई नहीं। पर कोई रेखा कहीं दीखती न थी।

माथे से पसीना पोंछा। फिर नीचे समुद्र पर दृष्टि जमाई कि देखकर रहेंगे। पर क्या दीखता ? अन्त में हारकर उहोंने पास के साथी से कहा—हमने भूमध्य रेखा पार कर ली, आपने देखा नहीं ?

साथी ने संक्षिप्त भाव से कहा—जी ?

'ओह, कितनी चौड़ी और गहरी थी ? कैसी काली दीखती थी। आपने देखा नहीं ! अजी एक खासी दरार ही कहिये।'

साथी ने महाशय को अचरज से देखा, बोले—तो आपने भूमध्य रेखा देख ली, गहरी काली थी न ?

'जी !'

'अफसोस है, मैं नहीं देख सका !'

'जी हाँ ··· लेकिन अब काफी पीछे छूट गई है।'

'धन्यवाद ··· आप कहाँ रहते हैं ?'

'मैं ···'

··· मालूम नही आगे उन दोनों में क्या चर्चा हुई। सच यह कि चर्चा ही नही हुई। क्योंकि आखिर किस्सा है और गढ़न्त है।

पर उसमें एक बात है। बात यह कि नक्शा असलियत नहीं है।

हमारे महाशय बेहद वंचित और निराश हो आये जब भूमध्य रेखा भू पर कहीं देख नहीं पाये। मध्य में नहीं, आस-पास नहीं, कोने किनारे नहीं, कहीं भी नहीं । अब माना कैसे जाय कि है नहीं। चुनाचे उन्हें और भी जोर से दावा करना पड़ा कि वह तो है, बड़ी गहरी और काली है। अजी देखी जो है !

यह झूठ और आग्रह क्यों ? क्योंकि अपने ज्ञान को सच रखना है। भूगोल का काम उस रेखा बिना चलता नहीं। रेखा वहाँ बहुत बुनियादी है। इसीसे नक्शे पर सदा मोटी लकीर से उसे बताया जाता है। नहीं तो वह शास्त्र चल नहीं सकता। उस रेखा के महत्व के बारे में छुटपन से ही जानना सीखना होता है। उस सहारे ऋतुएँ समझ आती हैं और प्रकृति संबन्धी इतना यथार्थ विदित होता है। वही फिर भूमि पर एकदम अस्तित्वहीन हो, यह ग़लत बात हुई न ?

उन महाशय के साथ, जो भूमध्य रेखा के चिन्ह तक को लाख आँखें फैलाने पर धरती सागर के अपार वक्ष पर देख नहीं पाये, हमारी गहरी सहानुभूति है। पर उनकी व्यर्थ चेष्टा पर बताइये हम हंसे नहीं तो क्या करें !

उन पर तो हम हंस लेंगे। पर सच यह है कि उसी तरह अपने पर भी हंसनें की तैयारी चाहिये। क्योंकि हम भूल जाते हैं कि ज्ञान हमारा अज्ञान भी है। हमारा है यह भूल जाते हैं, एकदम ज्ञान है यह मान लिया करते हैं। और जब देखते हैं कि अपनी

मानसिकता से अलग खुले जीवन में वह चलता नहीं है, निभता नहीं है तो खीजते और खिजलाते हैं। तब भी यह नहीं कि मान लें वह अज्ञान था, बल्कि और भी जिद करके अटक और अड़ जाते हैं। बहस करते हैं कि गलत ज़िंदगी है, ज्ञान तो एकदम पक्का और साबित और सही है।

ऐसे ज्ञानी लोग अपने ज्ञान की दूकान पर कितने भी विज्ञ दीख पड़ें, जिन्दगी के मैदान में वे ही आसानी से अज्ञ बने दिखाई देते हैं।

जिन्दगी एक साबत चीज है। उसमें खाने नहीं हैं, विभाग नहीं हैं। वह अखंड है और संमग्र है। लेकिन ज्ञान अखंड को कैसे ले ? वह विभाजन करके जानता और विभाग में रहता है। यही उसकी सुविधा है। अलग जानना जानने की शर्त है। धरती को हम जानना शुरू करते हैं ऐसे कि वह आसमान नहीं है। यह नही है, वह नही है, इसी तरह इन्कार में चलते-चलते हम उसके स्वीकार तक पहुँचना चाहते हैं जो है। यह ढंग ज्ञान का ठहरा। न इति, न इति।

सो विभाजन ज्ञान का अस्त्र है। यह अस्त्र बाहर चलाया जाता है तो आदमी को बहुत कुछ प्राप्त होता रहता है। विज्ञान उसी में से मिल गया है। अपने बारे में चलाया जाता है तो भी बहुत कुछ मिल जाता है। मनोविज्ञान उसी में से हाथ आया है। पर इस मनोविज्ञान के लिये आदमी ने अपने को ही नहीं काटा। बाहर के व्यवहार में प्रतिफलित जो अपनी छाया हम देखते हैं, उसी को काट-छाँटकर समझा है। ऐसे उस ज्ञान और विज्ञान को भी हम उपलब्धि कहते हैं।

लेकिन एक और महत्वशाली प्रक्रिया है। वैज्ञानिक नहीं उसे नैतिक कहा जाया करता है। उसमें ऊपर से नीचे गुणों में सत्यता को बांटते हैं। जैसे यही कि सृष्टि में तीन गुण के तीन स्तर हैं। जीवन तीन खंडों में बँटा खड़ा है—तम बीचे, रज ऊपर, सत्व सबसे ऊपर। ज़िन्दगी का यह तिमंजिला नक्शा वाजिब और वैधानिक मालूम

होता है। पर मान लीजिये कि उस ज़िन्दगी की इमारत में हमें रहना भी है। तो मकान वह तभी काम दे सकता है, उसमें रहा-सहा जा सकता है, जब उन मंजिलों में आपस में आवा-जाई हो। एक जीना हो जो तीनों को जोड़ता हो। एक मुलाज़िम हो जो तीनों का खयाल और इन्तजाम रखता हो। बहरहाल इस तिमंज़िले जीवन के मकान का सफल स्वामी हो वह सकेगा जो नीचे की मंज़िल का ध्यान उतना ही रख सके जितना ऊपर वाली का। नीचे से खास नफरत न हो उसे, न ऊपर का विशेष मोह।

यह बात सृष्टि को त्रिगुणात्मक बतानेवाले ऋषि के चित्त में उपस्थित नहीं थी, यह नहीं मानना होगा। कारण कि उसने यह भी बताया कि गुणों में तो निवास है, निवासी स्वयं निगुर्ण है। वास खंडों में हो, वासी अखंड है, व्याप्त है। वह कटा-बँटा नहीं है। ऊँचा-नीचा नहीं है। कोई मंज़िल उसको घेरे और अपनाये नहीं है। सर्ववासी जो आत्मा है वह निरे सत्वगुणवाला नहीं है, न और गुणवाला है। संख्या उसके समक्ष अपनी गणना छोड़ रहती है। तीन वहाँ तीन नहीं रहते, एक हो जाते हैं। उपयोग योग में खो रहता है।

यह सब इस समय सूझता इसलिये है कि एक पत्र आया है। पत्र अत्यन्त महत्वपूर्ण व्यक्ति का है। उनका जीवन विसर्जित रहा है। आरम्भ से अन्त तक स्वार्थ का उस जीवन में लेश भी नहीं है। चिंतन और कर्म का वह अजस्र साधनाशील जीवन है। उनका पत्र है और जान पड़ता है कि रजस और तमस् से उनकी अनबन अटूट है। सात्विक के लिये पुरुषार्थ और प्रयत्न भी अटूट है। इसमें राजसिक आदि भावों का भय और रहता है सतत समझौते का डर। उनकी साधना पर जैसे पाप का हौआ हर पल छाया डाले रहता है।

यह साधक पुरुष अपने को तृप्त; कृतार्थ और तुष्ट अनुभव नहीं करते हैं। साधक हैं और साधना उनके सम्पूर्ण शरीर पर लिखी है। जैसे कस बाँधकर सुखाया गया व्यक्तित्व हो।

वह कहते हैं कि प्रवृत्ति सात्विकता में से होनी चाहिये, कम

से कम वह जो समाज का मंगल चाहे। रजोगुणी प्रवृत्तियों से साव-धान रहना होगा। राजनीति अधिकाँश रजोगुणी है, अधिकाँश क्यों सर्वांश राजसिक है। प्रवृत्ति सौम्य होगी, सौम्य से सौम्यतर, सौम्यतर से सौम्यतम। सौम्यतम की भूमिका पर जाकर जो हो, वह वहाँ देखा जायगा। इसलिये सत्याग्रह स्थगित, संघर्ष मात्र स्थगित, वह सब प्रवृत्ति स्थगित जिसमें प्रतिकार है, विरोध है, चुनौती है, लल-कार है।

नैतिक साधना, अक्सर देखा गया है, इस तरह हमें मानवता के वह नमूने दे आती है, जो पवित्र हैं पर पीले हैं। भले हैं, पर भोले हैं। सज्जन हैं, पर अशक्त हैं। भक्त हैं, पर गऊ है। ऊँचे हैं, पर बेबस हैं।

नैतिकता में से यदि यह नमूना ही प्राप्त होता है जो कर्म की और लोक की बागडोर को हाथ में थाम नहीं पाता, हाथ उसके काँप जाते हैं, तो निश्चय है कि नीति को ताक पर रखकर चलने वाली खुली शक्ति मैदान के लिये रह जायगी और दुनिया की लगाम को वह हाथ में लेकर चलायेगी।

पर नक्शे की मोटी लकीर ज़मीन पर नहीं मिली। जिन्दगी पर उसी तरह तत्ववादी की लकीरें भी नहीं हैं। धरती एक है और हर बिंदु पर वहाँ उत्तर-दक्षिण मिला हुआ है। इसी तरह जिंदगी एक चीज है और उसके हर जीवन-कण पर सत्व, रज, तम मिल जाते हैं। दिशाओं का पृथक्करण ठीक है जमीन पर, और गुणों का पृथक्करण ठीक ज़िन्दगी पर। पर कृपया हम बहकें नहीं। इस तरह न जमीन कटती है, न जिंदगी सच में बँटती है। सिर्फ ऐसे काम ही सधा करता है। काम इसलिये सधता है कि उस प्रकार हमारी मानसिकता सत्य के साथ एक रिश्ता कायम कर पाती है और इस तरह अपना उपयोग वह सत्य को दे पाती और उसका उपयोग अपने लिये ले पाती है।

सृष्टि कैसे होती है? कैसे आविष्कार हो आता है? शिशु कहाँ से अपना आरम्भ पाता है? किस प्रकार कविता फूट आती

है, और चित्र और गान और स्तवन ? क्या उत्स है तमाम संस्कृति का और सृष्टि का ?

मुझे निश्चय है कि सृष्टि विभाजन में से नहीं है। ज्ञान में से नहीं है, क्योंकि ज्ञान विभक्त है। किसी भी आग्रह में से नहीं है जो आदर्श से यथार्थ पर टूटता है। सृष्टि वहाँ से है जहाँ आदमी लीन हो जाता है, जहाँ वह अपनी विभक्ति भूल जाता है। जहाँ वह न अच्छा रहता है, न बुरा रहता है। जहाँ वह बँटा नहीं होता, एकाग्र और समग्र हो आता है। जहाँ वासना और भावना में पृथकता नहीं रह जाती। जहाँ व्यक्ति अपने को पूरा अंगीकार करता और फिर पूरा का पूरा निछावर कर डालता है। जहाँ अपने किसी अंश को पीछे रोकता नहीं है और सर्वांश को स्वाहा करके धन्य होता है।

जिन्होंने इतिहास में सृष्टि की, तीर्थ की सृष्टि, धर्म की सृष्टि, साहित्य और प्रकाश की सृष्टि, वे महाभाग भीतर से कटे हुए व्यक्तित्व न थे। मानो वह समस्त थे। एक आग में जो भी उनके पास था, काला या धौला, सु या कु, सब तप गया और दीप्त हो आया। शरीर के साथ जो मलिनताएँ रहती हैं रहीं, पर ज्वाला से वे जैसे उज्ज्वल हो आयीं। जीवन का सन्दर्भ ही बदला; मिटा कुछ नहीं, सब रूपान्तरित हो गया। जड़ ज्वलन्त बना, मंद उस लौ के परस से भीतर की आग में दिव्य हो आया। क्रोध तेज बन गया। अवगुण गुण हो रहा। कठोरता ने कोमलता से संधि कर ली। नकार स्वीकार से मिल गया। इस तरह जीवन में से ह्रस्व कुछ नहीं हुआ, एक कण को भी काटकर अलग नहीं किया गया। मानो संयुक्त हो आया जीवन का हर वियुक्त और विच्छिन्न कण और वह सब सामग्री और समिधा बन यज्ञ की वन्हि-शिखा में अर्पण हो रहा।

विभक्त मानसिकता में से बने हुए मनमाने आदर्शों के नाम पर कुछ साधना करते हुए जो निस्तेज, निष्प्राण और खंडित व्यक्तित्वों के नमूने नीति और धर्म के क्षेत्र में देखने में आते हैं, सो अधिकाँश

इसी कारण कि उनकी बफादारी जीवन और जगत् के प्रति न होकर सिद्धांतों के प्रति हो आती है। कोई सिद्ध अन्त नहीं है, सिवा उस अन्त के जो स्वेच्छा से स्वयं का दूसरो में और सबमें उपलब्ध किया जाता है। वही है परम सिद्धांत। उसी का नाम है प्रेम। प्रेम से अलग जो भी कोई अपने पास दूसरा सिद्धांत रखता है, वह भूलता है और बहकता है। वह कटता है और काटता है। परिपूर्ण नहीं करता, न होता है और अपनी हठ में अड़ा रह जाता है कि वह है जो नहीं है।

अप्रैल, १६६०.

टूटे हुए लोग

इन्सान चौपायों से ऊँचा इसलिए है कि बुद्धिमान है। ऊँचा तो है, लेकिन क्या उनसे ज्यादा खुश भी है ? तब कहीं यह बुद्धि ही इन्सान की परेशानी का सबसे बड़ा कारण तो नहीं है ? फिर उपाय क्या है ?

एक मित्र की याद आती है। बड़ी तीक्ष्णता थी उनके लिखने में। पर वह कहीं जम न सके। ऐसा जान पड़ता था कि सब उन्होंने खखोल डाला है और मालूम कर लिया है कि सार कहीं नहीं है। बेधक उनका व्यंग होता था। परिणाम यह कि अन्तिम उनके पास कुछ न बचता था जहाँ टिक सकें। कोई मूल्य नहीं, कोई मान नहीं। प्रतिभा उनमें अद्‌भुत थी। वह प्रतिभा ही उन्हें खा रही थी। सहृदय थे, निरीह थे। लेकिन अन्त में उनके पास जीने का और उपाय न बचा, सिवा इसके कि होशियारी खेलें। विश्वास किसी को दे नहीं सकते थे, किसी का ले नहीं सकते थे। अन्त में अपने बलबूते रहना ही उन्हें रह जाता था। ऐसे, न कुछ उम्र में ही वह बिराने बन गये।

याद करता हूँ, लखनऊ का स्टेशन था। मेरा मन उनके प्रति आरम्भ में प्रशंसा से भरा था। फिर मनमें प्रश्न होने लगा। पर सबसे अधिक उस समय सहानुभूति थी। दीख रहा था कि जीवन की पकड़ उनसे छूट रही है। वह डूब रहे हैं।

सहसा बोले--जिन्दगी मेरी गलत थी। अब देखता हूँ कि काम एक ही है, 'सेल्फ-परफेक्शन'।

यह शब्द 'सेल्फ-परफेक्शन' अब तक मुझे याद आता है। उस समय वह शब्द मुझे चीरता गहरा अन्दर उतरता चला गया था। इतनी तीव्र और कुशाग्र बुद्धि रखनेवाला यह व्यक्ति अगर पहले से

इस 'सेल्फ-परफेक्शन' के इष्ट को साथ ले पाता !

बाद में सुना कि यह मित्र कुछ दिन पागल रहे, फिर उनका देहान्त हो गया।

छुटपन के एक और साथी की याद करता हूँ। चौथी क्लास में उसने प्रवेश पाया था। सारी क्लास कुछ ही दिनों में उसकी अनुगत हो गई थी। पढ़ने-लिखने में तेज, खेल-कूद में तेज। मैं तो विस्मय-विमुग्ध रह जाता था उसे देखकर। दो-तीन वर्ष बाद हम लोगों की राहें बिछुड़ गयीं। लेकिन उसकी छाप मन पर गहरी पड़ गई थी।

शायद ऊपर छः-सात वर्ष और बीत गये। एकाएक दूर के एक नगर में वह दीख पड़ा। विश्वास करना कठिन हुआ। चौड़ी बाँहो का मलमल का कुरता, नीचे लुंगी, दो साथियों के साथ बाजार में चला जा रहा था। साथी ऐसे नहीं थे कि जिन्हें संभ्रांत कहा जा सके। चाल अजब कि जैसे पाँव धरती को धमकते हुए चल रहे हों। किसी तरह न हो सका कि मैं आगे बढ़कर नाम लेकर उसे पुकारूँ और बात करूँ। लेकिन अगले रोज उसने ही मुझे पा लिया। बात की तो मालूम हुआ कि एक साथ उसमें शेखी है और प्रार्थना है। मेरे लिए सहना मुश्किल हुआ। मेरे मन पर उसका बहुत ऊँचा स्थान था। एकाएक उसी को प्रार्थी के रूप में पाकर मन को गहरा धक्का लगा। यह व्यक्ति शायद दस वर्ष और जिन्दा रहा। बत्तीस तेंतीस की आयु में उसकी मृत्यु हो गई।

अन्य एक बन्धु की याद कर सकता हूँ। वे अभी जीवित हैं। जब मिले उनकी विचक्षणता से दंग रह जाना पड़ा था। उनमें चौमुखी प्रतिभा जान पड़ी थी। निश्चय था कि लोक-जीवन में शीर्ष पर पहुँचे बिना वे न रहेंगे। लेकिन बाद के जीवन में वह बात सच होती न दिखाई दे सकी। कहीं उनका बन नहीं पाया। सबको स्वीकार करना पड़ता था कि विचक्षण हैं, पर यह विचक्षणता ही उन्हें अलग काट देती थी। जहाँ गये, जो किया, छिटककर अलग दूर हो रहे। सहयोग में सहयुक्त न रह सके। योग्यता ही इसमें बाधक हो जाती थी।

इन उदाहरणों से मन चक्कर में पड़ जाता है। कभी होता है कि कह दिया जाय, भाग्य मनमाना है, वह बहुत बेतुका है; तर्क उसमें है नहीं। पर यह कहकर अपनी रक्षा ही होती है। समझ को सहायता नहीं मिलती।

यह ठीक है कि सृष्टि का तर्क पूरा-पूरा हमारे हाथ नहीं आ सकता। यदि और कुछ नहीं तो इसीलिए कि हम स्वयं उसके अंग हैं। अंश पूर्ण को कैसे पाये ? फिर भी जब हम बिगड़ते हैं, भाग्य आदि कहकर मानो उस पर अपनी अप्रसन्नता फेंकते हैं, तो यह ठीक नहीं करते। शायद इस तरह हम अपने लिए मनमानापन अपनाना चाहते हों। पर अंत में भाग्य के साथ मेल मिलाये बिना चलता नहीं है, और आवश्यकता बनी रहती है कि समझें कि भाग्य का यदि कुछ विधान है, तो वह क्या है ?

लोग आते हैं और बहुत कुछ कर जाते हैं। बाज लोग तो वह जबरदस्त पराक्रम दिखाते हैं कि दुनिया दंग रह जाती है। वह हलचल, वह धूमधड़ाका कि क्या कहिये। पर इस सबके बाद अंत में वह हाथ मलते-से ही जाते हैं कि कुछ हुआ नहीं, कुछ किया नहीं। इतना जो उन्होंने अपनी जिन्दगी में किया-धरा होता है सो एक ही साथ अगर उन्हें व्यर्थ बना दीखता है, तो क्यों ?

जान पड़ता है कि उस नियम को जो विधाता का है आदमी को पहचानना ही होगा। बुद्धि मिली है इसीलिए। वह भरमाती है इसीलिए कि आदमी भटके, त्रास पाये और सीखे। इसीलिए बुद्धि जिन्होंने पाई नहीं, वे पशु सुख से हैं। अपने अन्तर्भूत नियम से तद्गत होकर जीते-मरते हैं और व्यर्थ परेशान नहीं होते। मनुष्य को बुद्धि जो मिल गई है, इससे परेशानी भी बढ़ गई है। उसके लिए अवसर है कि विधाता के मन से न चले, अपने मन से चले।

यही बड़ी कठिनाई है। यह कि उसमें दो मन रहते हैं। एक तो गहरा मन जो विधाता ने उसमें रख दिया है। उससे छुटकारा नहीं। फिर दूसरा उसका अपना मन। इससे भी छुटकारा मुश्किल होता है। इन दो मनों के बीच बिचारा पिसता ही रहता है।

अब जो वस्तु है बुद्धि, वह क्या है ? निश्चय ही वह इन दो मनों के तनाव में से पैदा होती है। अपना मन हारना नहीं चाहता और आदमी को अपनी तरफ खींचे रखता है। बुद्धि इसी सहायता में उपज़ती है। इसका लक्षण 'मैं' है। 'मैं' में से विद्रोह उत्पन्न होता है।

ऊपर जिन बन्धुओं का जिक्र है, अखिर वे क्यों टूटे ? क्यों अधूरे रह गये ? क्यों वह शक्ति आगे तक उन्हें नहीं ले जा सकी, जिसका प्रकाश आरम्भ में दीखा था ? कारण इसके सिवा कुछ और नहीं मिलता है कि उनका बल 'मैं' का था। यह बल राह में ही क्षत-विक्षत हुए बिना कैसे रहता ? भाग्य यदि कुछ होगा तो अविरोधी होगा। 'मैं' तो अनेक हैं। 'मैं' का बल इसलिए अनिवार्य विरोध में पड़ जाय तो विस्मय क्या है ! टिकनेवाला अन्त में तो वही बल रहेगा जो 'मैं' का न हो, या कहो 'अनेक मैं' का हो।

यह बात मन में उठती है तो दुनिया का जैसे नक्शा ही बदल जाता है। जीवन का ही स्वरूप कुछ का कुछ होने लगता है। और उन बन्धुओं की याद उकसा कर मैं इस समय उसी चक्कर में पड़ गया हूँ।

चक्कर यह कि एक होना है, दूसरा करना है। होने का क्षेत्र आंतरिक है। करने का बाहरी। हम बाहर के प्रति करते हैं। सारे करने का मुँह उधर ही है। लेकिन होने की साधना का मुख जैसे अपनी ओर हो आता है।

वह मन जो गहरे में है, जब वह खींचता है तब हमारा आचरण एक ढंग का होता है। जब ऊपर का हमारा मन चलाता है तब व्यवहार दूसरी तरह का हो जाता है। इन्द्रियों का सम्बन्ध शायद ऊपरी मन के साथ है। सब इन्द्रियाँ जगत् पर खुलती हैं। उन्हीं के नाते से वस्तु-जगत् हमारे साथ जुड़ता है। आँख है, इसलिए हमारे लिए रूप भी है। यों रूप-स्पर्श-गंध-वर्णमय जगत् हमारे लिए हो ही नहीं आता, इच्छा का विषय भी हो जाता है। इसमें से कर्म निकलता है। वस्तु-जगत के प्रति हम चलते हैं और इस

तरह अपनेपन का विस्तार साधते हैं। आदमी यों फैलता है। कह सकते हैं, यह उसका विस्तार जिस आयाम में होता है वह देश है। उसमें दिशा है तो बाहरी दिशा है। जो आदमी बहुत करता-धरता है तो उसका यह सब करतब इस देश-दिशा के आयाम में हुआ करता है। उसमें से राजनीति फलित होती है। राजनीति में से व्यक्तिमत्व विस्तार पाता और संघर्ष में आता है। क्षेत्र एक का उसमें फैलता तो वह दूसरे के क्षेत्र पर दबाव लाता है। आप आवश्यक पाते हैं कि इस-उस सम्मेलन के लिए देश-विदेश जायं, तो यों सहज ही वायुयान की यात्रा से दुनिया आपके लिए सिमटती जाती है। आप फैलते हैं, दुनिया सिकुड़ती है। यहाँ तक कि आदमी आपके 'मैं' के लिए बिन्दु बन आता है। आप देशों की बात करते हैं जिनकी जन-संख्या इतने करोड़ या उतने करोड़ है। आदमी उस अरबों-करोड़ों की संख्या के बीच एक अंक बन आता है और आप ठीक उसी समय अनुभव कर रहे होते हैं कि आप जन को पार कर जनता तक फैल रहे हैं। मनुष्य को पार कर मनुष्यता का काम कर रहे हैं। मानव की इकाई से आप उठ जाते और मानव-जाति तक पहुँच जाते हैं!

अब यह भाषा है कि इस घटना को आप किस रूप में कहें। चाहे तो कहिये कि आपका विस्तार बढ़कर जनता-मनुष्यता तक और मानव-जाति तक हो गया है। चाहे कहिये कि जनता-मनुष्यता और मानव-जाति आप तक सिमट आई है। जो हो, राजनीति से यह घटना घटित हुआ करती है। और राजनीति कर्म का एक प्रधान और प्रकाण्ड रूप है। कर्म उठते-उठते अंत में राजकर्म का रूप लिए बिना चैन पाता नहीं।

उधर दूसरी ओर होना है। इसका आयाम भिन्न है। देश की जगह उसको चाहे तो काल कह दीजिये। इस काल के आयाम में देश-विस्तृत राजनीतिक पुरुष क्षण से अधिक टिकता दिखाई नहीं देता। आज अगर मरता है तो कल के लिए जीने को शेष नहीं बचता। राजनीति स्थान-प्रधान होती है। स्थान खाली रहता नहीं, प्रकृति खालीपन सह नहीं सकती। काम-काज कुरसी खाली कैसे

छोड़े ! कुरसी खाली पड़ी कि जाने कितने उसके उम्मीदवार मौजूद हैं। असल में वह बाट ही जोहते हैं कि कुरसी कब खाली हो। कायदा यह अब भी एकदम पुराना नहीं हुआ है कि राजा की कुरसी के लिए इंतजार अच्छा नहीं है, जाने कब अपने आप मरे या उतरे। इसलिए आगे बढ़कर उस कुरसी पर बैठे राजा आदमी को मार देना अनुचित नहीं समझा जाता है। लोक-कल्याण के लिए दावे के साथ यह किया जाता है और ऐसे जो बना हुआ नया राजा आता है, उसका हृदय से जयजयकार किया जाता है।

तो काल का आयाम दूसरा है और देश-सफल पुरुष काल-विफल बनते दिखाई देते हैं। यह काल शायद कुछ और माँगता है। करना नहीं, शायद होना माँगता है। क्या तुमने किया यह नहीं, अंदर से क्या हो यह दिखाओ।

विधाता के दरबार में बहीखाता संभाले जो धर्मराज मुनीम हैं, जब वह खाता खोलकर चिट्ठा पेश करते हैं कि इस आदमी ने जीवनकाल में यह-वह कार्रवाई की तो विधाता महोदय उस तल-पट से अनुमान और निर्णय यह करते हैं कि वह महाशय अपने भीतर क्या थे, और क्या चाहते रहे। उसी हिसाब से फिर आगे के लिए आदेश देते हैं।

करने का मूल्य भाव में है। भाव का मूल्य हेतु में है। काम बढ़ा-चढ़ा हो, लेकिन मान लीजिये भाव उसके पीछे घटिया हो तो उस सारे काम का मूल्य बढ़िया नहीं ठहराया जा सकेगा। और यही हुआ करता है। बड़े दबदबेवाले लोग जिनके आगे उस समय सब झुकते थे, इतिहास में ऋण मूल्यवाले रह जाते हैं।

इसीलिए कर्म-विचार के लिए धर्म-विचार आवश्यक हो जाता है। धर्म का विचार बाहर की ओर के फैलाव को महत्व नहीं देता। वह भीतर की ओर जाता है। करने में वह होने को देखता है। सज्जन का स्वल्प कर्म उसके निकट अधिक मूल्य रख सकता है। बृहत् कर्म के पीछे यदि सत् न हो तो वह धर्म-न्याय के लिए उतना ही नगण्य हो जाता है।

तो धर्म की दृष्टि के लिए यह होने-करने की बात बहुत महत्व की हो जाती है। अर्थात् धर्म 'किया' नहीं जा सकता। करने की भाषा में उसे दिया या लिया नहीं जा सकता। अंततः धर्म के लिए सिवा स्वयं धार्मिक बनने के दूसरा उपाय रह नहीं जाता। इसके अतिरिक्त धर्म के सम्बन्ध में जो प्रचार-प्रभावना है, जो प्रवृत्ति-आंदोलन है, उसका मूल्य सहसा संदिग्ध हो आता है। मूल्य नहीं है, यह कहना गलत होगा। लहरें तो उससे किसी न किसी प्रकार की फैलती ही हैं। किन्तु मूल्य और उपयोग वह स्वार्थिक है या पारमार्थिक है, यह अवश्य शोध का विषय रह जाता है।

यदि होने की भाषा में धर्म के सार को हम देख सकें, तो जान पड़ेगा कि विविध धर्म, अपना अलग मंदिर, तत्ववाद और आम्नाय रखनेवाले विविध मत, मूलतः एक हो आते हैं। उस 'होने' से युक्त जो 'करना' है वह भी उन धर्मों की एकता को विभक्त नहीं करता। लेकिन उस अन्तरात्मता से जो कर्म विहीन और वियुक्त हो जाता है, वह फिर धर्म में सहायक कैसे हो सकता है?

जून, १६६०.

राजनीतिक, दार्शनिक, साहित्यिक

दार्शनिक जिन्हें सिद्धांत कहता है, राजनेता उन्हें वहम देखता है और राजनेता जिसे पद और प्रभुता मानता है दार्शनिक उसे माया का खेल और फरेब देखता है।......यह दोनों क्योंकि नायक पुरुष होते हैं और उनमें अहं का और आग्रह का तेज होता है इसलिए बीच में सेतु बना साहित्यिक दोनों की अवज्ञा के योग्य रह जाता है। उसमें हठ हो तो कैसे हो? इसलिए उसमें तेज की जगह विनय ही हो सकता है और यही उसकी परीक्षा है।

उस दिन नाटक का निमन्त्रण मिला और अनुरोधपूर्वक कहा गया कि देखिए, अवश्य आइए, साढ़े पाँच बजे आ जाइए।

मैंने कहा, खेल तो सवा छः से है।

"जी हाँ, पर नैपथ्य भी देखिएगा। आप लेखक हैं, शायद वह अधिक पसन्द करें।"

स्टेज पर नाटक दीखता है, नैपथ्य में तैयार होता है। स्टेज पर राजा राजा होता है, चाकर चाकर। सब वहाँ अपने-अपने रोल में काम करते हैं। नैपथ्य में रोल होता नहीं, बताया जाता है। वहाँ मैंने यह तमाशा भी देखा कि चाकर राजा को सिखा रहा है कि उसे राजा बनकर क्या और कैसे करना चाहिए!

कल खबर थी कि विज्ञान के उन डाक्टर महाशय ने आत्महत्या कर ली। आत्महत्या सनसनीखेज चीज है और अखबार के लायक है। वह डाक्टर पीछे चार खत छोड़ गये—उन खतों से अब उस कृत्य के कारणों की जाँच की जाएगी।

वहाँ गोली चली, इतने हताहत हुए। कारण की खोज के लिये कमीशन बिठाया गया है।

तो एक तो यह दुनिया है जो रूप में सामने है और दीखती है। इसे क्रिया-जगत या घटना-जगत कह लीजिए। पीछे इसके नैपथ्य जगत है जो दीखता नहीं है। दीखने के लिये वह है भी नहीं। पर वहाँ से दीखनेवाला सब कुछ बन बनकर आता है। वह कारण जगत है।

इन क्रिया-जगत और कारण-जगत दोनों में किसी को प्रधान और गौण कहने का कुछ अर्थ नहीं है। अपनी-अपनी रुचि या संस्कार है। क्रिया और घटना की दुनिया का जीव राजनीतिक है। उसका हाथ खबर की नब्ज पर रहता है और मन इसीलिये अखबार में रहता है। दृश्यरूप उसके लिये गौण नहीं है। खबर में क्या कहाँ दीखता है, यह उसके लिये कम महत्व की बात नहीं है। क्या चार कालम शीर्षक में है, क्या दो कालमों में, पहले पृष्ठ पर है, तीसरे या पाँचवे पृष्ठ पर है, यह उसकी चिन्ता के लिए काफी संगत विषय है। कुर्सी उसके ऊपर कितनी हैं, उसके नीचे कितनी हैं, स्थान उसका कहाँ है, दूसरे का कहाँ है—इत्यादि से वह निरपेक्ष नहीं रह सकता। उसका काम ही वहाँ का है। वह वर्तमान पर है। और जानने से अधिक कर गुजरने में उसकी सफलता है। एक्शन का गुर उसे साधे रखना है। राजनीति तात्कालिक संभावनाओं का खेल है और कुशल के हाथ उसकी बाजी है। यहाँ की चीज सिद्धान्त नहीं है, सफ-लता है।

इसके विरोध में एक दूसरा प्राणी है। उसको दार्शनिक कहिए। कार्य में उसे रस नहीं, प्रवृत्ति से वह निवृत्ति चाहता है। घटना में वह अनुरक्त नहीं है, उसके पीछे के कारण जगत में वह रस रखना चाहता है। फिर तात्कालिक कारण नहीं, उसके भी मूल कारण में उतरना चाहता है। उसे सबके आदि कारण की खोज है। जानना ही उसके लिये काम हो जाता है। इसके अतिरिक्त जरा भी काम उसे बोझ के मानिन्द होता है। मानो वह साधनापूर्वक निकम्मा बनता है। दुनिया भाग-दौड़ कर रही है, और वह आकाश में या पाताल में देखने में मग्न है। वह सिद्ध-अन्त को चाहता है। दूसरी सफलता

उसके लिये कुछ रह नहीं जाती। कोई नई सूझ उसे हाथ आ जाय कि जिससे इस समक्ष जगत-व्यापार की गुत्थी सुलझती दीखे, तो उसी में वह अपनी धन्यता पा लेता है। वह लीजिये, आप हँस रहे हैं और प्रसन्न हैं! पूछिये कि ऐसा क्या आपको मिल गया है? तो अव्वल तो वह कुछ बता नहीं सकते, बताएंगे भी तो वह कुछ ऐसा सूत्र होगा जिससे खाक-पत्थर समझ न आये। पर उसी को वह मानेंगे सत्य। और अपने इस सत्य के अटपटे सूत्र पर दीखने वाला सारा वास्तव और यथार्थ कुरबान करने को तैयार हो जाएँगे। सुकरात साहब आज मशहूर चाहे कितने ही हों, पर क्या उनके घर-परिवार का, रहने-सहने का ठीक-ठिकाना था? आखिर आप जहर पीकर मर गये। सिर्फ इसलिये कि कुछ शब्द आप में अटक गये थे जिनके आगे जिन्दगी उन्हें ना-चीज बन गई। उन शब्दों के साथ मरना उन्हें पसन्द हुआ, उसके एवज़ में जीने को वह तैयार न हुए।

ऊपर का राजनीतिक भी अपना सत्य रखता है। उस सत्य पर लाखों-करोड़ों को वह युद्ध में झोंक दे या हजारों को पर्ज में साफ कर दे तो उसे यह भारी नहीं होता है। उसे हक होता है कि कहे, उसका सत्य देश-सत्य है, युग-सत्य है, जनसत्य है। कारण, वह राज-नेता है। अकेला नहीं है, संगठित वहु-संख्यकता उसके साथ है। यह बहु-संख्यकता का बल अन्तःकरण के बल से स्पष्ट ही अधिक प्रचण्ड होता है। न्याय-संस्था का सैन्य उसके साथ होता है, शस्त्र-सैन्य भी। अन्ततः जनमत को भी उसके साथ होना होता है।

दार्शनिक की बिरादरी की हालत दूसरी है। गणनात्मक बल उसके साथ होता नहीं। न संस्था, न समाज। वह कारण जगत में भटकने को बढ़ जाता है, तो मालूम होता है कि वह अकेला पड़ता गया है। अन्ततः वह है और साथ उसका अन्तःकरण है। अन्दर की उपलब्धि और प्रसन्नता ही समर्थन के तौर पर उसके पास है, अन्यथा वह एकाकी है। उसका सत्य व्यवहारी होता ही नहीं। वह आदर्श सत्य-सा होता है। जाहिरा वह दूसरों को सनकी के

हठ जैसा मालूम होता है। मगर जान ही उसकी उसमें बसती है तो क्या किया जाय। आखिर लाचार दुनिया को उसे शहीद बनाना पड़ जाता है। कम्बख्त इसके लिए वह खुशी से तैयार भी हो जाता है। मानो बचना ही नहीं चाहता।

मुझे लगता है कि यह दोनों आदमी दो सिरे हैं। दोनों में कुछ है तो कि आग्रह हो। एक सत्याग्रह में मर जाता है, दूसरा मताग्रह में मारता चला जाता है। दुनिया दोनों में ही वीरता देखती है। दोनों की प्रशंसा किये जाती है। चक्रवर्ती सम्राटों के स्तवन होते हैं और गाथाएँ गाई जाती हैं। सन्तों, द्रष्टाओं के भी पंथ चलते हैं और विश्वासी बनते हैं। दोनों ही मानव-जाति के नायक पुरुष गिने जाते हैं।

पर इन दोनों में आपस में सही समझ नहीं हो पाती। रोमन सरदार कैसे समझें कि ईसा क्यों चाव से मर रहा है। न ईसा के ही यह समझने की बात है कि रोम के सरदार लोग आखिर अपने उन्मत्त आमोद-प्रमोद में रस क्या पाते हैं। दार्शनिक जिन्हें सिद्धांत कहता है, राजनेता उनमें वहम देखता है। और राजनेता जिसे पद और प्रभुता मानता है, दार्शनिक उसे माया का खेल और फरेब देखता है। यह दो बहुत निकट भी हो सकते हैं, परस्पर प्रिय भी हो सकते हैं। लेकिन बीच में एक बड़ी खाई रहती ही है। गांधी की बात छोड़िये, उसकी तो कोटि ही अलग है। उसका कभी फिर विचार करेंगे। लेकिन गांधी के विनोबा हैं कि पांव-पांव चलेंगे, और गांधी के ही नेहरू हैं कि समझ न पायेंगे कि प्लेन से उड़कर वक्त को फिजूल जाया जाने से क्यों न बचाया जाय। एक राज्य से मुँह मोड़ेगा, दूसरा राज्य को कन्धे पर लिये चलेगा। बहुत पास हैं, लेकिन फिर भी भीतर यह दोनों प्राणी परस्पर बहुत दूर हैं।

यह तो हुए राजनीतिक और दार्शनिक। तीसरा बीच में हो सकता है साहित्यिक। उस बेचारे का दुर्भाग्य यह है कि वह न तो कार्य से निरपेक्ष कारण की ओर जा सकता है, न कारण को कार्य की ओट में डालकर उसे अपने से ओझल सह सकता है। उस

बेचारे के पैर एक-एक इन दोनों नावों पर रहते हैं। और इन दोनों नावों के खेने वाले परस्पर विपरीत चलना चाहे बिना नहीं रहते। इससे उसके जीवन में फटाव आने का सदा डर रहता है। आदर्श को छोड़ नहीं सकता, न यथार्थ ही छोड़ सकता है। और दोनों को जब एक दूसरे की अपेक्षा में और समन्वय में वह देखना और दिखाना चाहता है तो यथार्थ और आदर्श, सिद्धांत और व्यवहार, एक दूसरे की ओर भृकुटियों को ताने बिना रह नहीं पाते। ऐकांतिक दोनों क्योंकि नायक पुरुष होते हैं और उनमें अहं का और आग्रह का तेज होता है, तब बीच में सेतु बनने वाला यह साहित्यिक दोनों की अवज्ञा के योग्य रह जाता है। उसमें हठ हो तो कैसे हो ? इसलिये तेज की जगह उसमें विनय ही हो सकता है। और यँही उसकी परीक्षा है।

फरवरी, १९६०.

व्यक्ति और राष्ट्र

अगर आदमी है और अपने चित्त को लेकर संयुक्त है तो राष्ट्रवाद और उन राष्ट्रों का सीमावाद और अहंवाद भी अंततः उसके भविष्य को बिगाड़ नहीं सकेगा। प्रेम है वहाँ भविष्य सुरक्षित है।

मुझे ध्यान था, तो भी दफ्तर पहुँचा तो ढाई बज चुका था। देखता हूँ कि वहाँ इन्तजार में एक विदेशी युवक बैठे हुए हैं। चहरे मोहरे, वेशभूषा से नहीं मान सका कि वही होंगे। पर दूसरा अनुमान भी न हो सकता था। मैंने कहा—क्या मैं श्री जीन से मिल रहा हूँ।

अभ्यागत खड़े हो आए थे। चेहरे पर सलज्ज विनम्रता थी। सकुचाते हुए कहा—जी, मैं जेम्स जीन हूँ!

'समय क्या आपको तीन बजे नहीं कहा गया था!'

'जी, दो बजे।'

'आपको निश्चय है? शायद मैंने तीन कहलाया था।'

जीन संकुचित हुए, बोले—तो मैं चला जाता हूँ, फिर तीन पर आ जाऊँगा। और वह चलने को हुए।

मैंने कहा—नहीं-नहीं। मेरा आशय यह कि कहीं मैं ही तो लेट नहीं हूँ, बैठिये, बैठिये।

उसके बाद हम लोग बैठ गये और बातचीत हो निकली। मेरे साथ एक महिला आई थीं। सोचता था कि आधेक घंटा उन्हें दिया जा सकेगा। वह इटली देश की थीं, पर वर्षों से पेरिस रहती थी और फ्रेंच ही कहिये। फ्रेंच ही बोलती-लिखती थी। अंग्रेजी समझ लेती थीं और ज्यों त्यों बोलकर अपना काम चलाती थीं। इससे बात में कुछ रस और आनन्द का ही योग हुआ। जीन भोजन

करके आये थे, लेकिन मार्गरीटा ने अभी लंच लिया न था। मैंने कहा--'बात का रस छोड़कर अभी होटल जाना तो शायद चाहती न होगी। यहाँ का देशी खाना चल सकेगा ?'

'नहीं, नहीं, बहुत हॉट (चरपरा) होता है।'

'बहुत नहीं, कुछ कम सम्भाल सकोगी ?'

'ओ नहीं, नहीं। पर आप चिंता न करें।'

इतने लंच का बन्दोबस्त हो कि बात हमारी फलफूल उठी। जीन साहित्य से और कविता से और कवियों से भरे थे। बीच-बीच में मार्गरीटा को भी कुछ कहने का हो आता। पर वह मुश्किल से दो मिनट में दो वाक्य बनाकर कह पाती। साथ उसे अपने हाथों को, ऊँगलियों को, चेहरे को, भवों को, नाना भंगिमाओं में चलाना होता था कि वाक्य कुछ आशय दे सके।

'वह···वो···वो···क्या ? इस्तील··· वह··स्तील···'

और मार्गरीटा ने ऊँगलियों को हवा में चलाकर मुँह को सिकोड़कर फिर उसे फैलाकर नाना प्रकार से समझाना चाहा कि याने क्या ? पर हमें पकड़ न आ रहा था। बातचीत के प्रवाह में मीर्गरीटा के इस स्टील पर हम दो तीन मिनट अटके रह गये। साहित्य रस में यह स्टील का रोड़ा क्यों आ गया कुछ समझ ही न आया। जीन और मैं अथक उस स्टील से जूझ रहे थे। उधर मार्गरीता भी अपने पूरे शरीर के बल से स्टील को हमें समझा देना चाह रही थीं। शायद पाँच मिनट तक हमारे बीच स्टील के सिवा कुछ न रह गया! बड़े लीन वे क्षण थे। हम तीनों ही हँस रहे थे और स्टील को लेकर व्यग्र भी हो रहे थे।

मार्गरीटा ने अपनीं दाहिनी हाथ की उँगलियों को मिलाकर कमलकली की तरह आकाश में उठाते और सहसा उसे प्रस्फुटित करते हुए कहा-'द स्तील इज द मैन।'

आदमी फौलाद है, यह मानने में कोई बहुत बड़ी बाधा तो हमें न थी। लेकिन इस समय इस मार्गरीता के चित्त में फौलादी आदमी है, ऐसा किसी तरह संगत न जान पड़ा।

कि सहसा मुझ में प्रकाश कौंधा। मैं बोला—'ओ स्टाइल तो कहीं नहीं ?'

'इस, इस, स्तीइल, इस्ताईल, स्टाइल।'

और हम तीनों बहुत हंसे, बहुत ही हँसे।

इस तरह खाना निबटा और मार्गरीता फिर चली गई। जीन पास रह गये।

हमारे मन में एक प्रतिनिध चित्र बना रहता है। जैसे यह कि अमरीकन अक्सर पैसा प्रतिष्ठ-व्यक्ति होता है। बहुधा हम आदमियों से नहीं मिलते, नेशनल्स (देशवासियों) से मिला करते हैं। जड़ मुसीबत की यहीं है। ऐसे जहाँ एकता है, अर्थात् मानवता, वह स्तर हाथ नहीं आता। आसपास राष्ट्र रह जाता है। यानी जैनेन्द्र और जीन नहीं मिलते, भारतीय और अमरीकन मिलते हैं। यों मानव गौण और राष्ट्र प्रधान आ बनता है। राजनीति और राजनेता की प्रधानता से यही अनिष्ट घटित हो रहा है। उस कारण मानवता का आविष्कार ही नहीं हो पाता, राष्ट्र-भ्रांतियाँ परस्पर उपलब्धि में आड़े आती हैं।

जीन शाम तक मेरे साथ रहा। [एक बचन इसलिये लिख रहा हूँ कि उसकी आयु मुझसे कहीं कम लगभग तीस वर्ष थी] मुझे नहीं अनुभव हुआ कि यह व्यक्ति स्वदेशी अथवा विदेशी हो सकता है। वह इतना खुला और स्वयं था। सचमुच मुझे विस्मय हुआ कि कोई व्यक्ति इतना हरा भी हो सकता है। अमरीका को हम दौलत का देश मानते हैं। पर वह भी मानव प्राणियों का देश है, जैसे कि और सब देश हैं। जीन को जानकर मुझे स्पष्ट हो गया कि अगर कभी दुनिया एक होगी तो वह संयुक्त राष्ट्र के भवन या जतन में से उतनी नहीं होगी जितनी मानव व्यक्तियों के परस्पर खुले चित्त के व्यवहार से होगी। व्यक्ति आयें-जायेंगे, वैसे ही जैसे कि हवा। बीच में संशय होगा नहीं और मन को खोजता हुआ मन अनायास ढुलकर उसमें आ मिलेगा। तब मालूम होगा कि जो अन्तराय थे वे ही उपाय बन गये हैं और बीच में पड़े हुए भाषा-

भूषा और वर्ण के भेद उलटे परस्पर में उत्सुकता, नवीनता और जिज्ञासा का रस पैदा कर रहे हैं।

मार्गरीता को ही लें। वह कोई चौतीस-पैंतीस वर्ष की महिला होगी। सुन्दरता की दृष्टि से निश्चय ही इटली फ्रांस से बढ़कर है। आकृति से वह कोमल थी और उंगलियाँ बारीक थीं। उन उंगलियों की मदद से समझाते हुए उसने कहा—'देट···किचन···किचिन यु नो।'

किचन हम जानते थे रसोई को कहते हैं। लेकिन वहाँ रसोई से क्या वास्ता था। हम इसलिये समझने की कोशिश में उसे देखते रह गये। जीन की आँखों में मार्गरीता के प्रति रस भर आया था और वह उत्साह से अपनी कविता और चित्रकला की बात कहता जा रहा था।

पूछा, 'किचिन ! किचिन व्हाट ?'

मार्गरीता ने वही हाथों से कोमलता के भाव को मूर्त्त करते हुए कहा—'देट स्माल किचिन, यु नो, टेन्डर, स्माल···।'

तब मालूम हुआ कि किचिन तो चिकिन है और हम बेतहाशा हँसे !

आप चाहे मानिए कि हमारे मिलन में इटली, अमेरीका और भारत ये तीन देश मिल गये। लेकिन वह हँसी, मुक्त और उल्लासमय, इन तीनों अथवा अनेक देशों के मिलन से कहीं पवित्र और ऊँची वस्तु थी। चित्त का मेल राष्ट्र की संधियों से कहीं अधिक सारवन्त और सफल तथ्य है, यह कहने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए।

मैंने पूछा—जीन तुम आये कैसे ?

'यों ही घूमने।'

'पैसा बहुत है ?'

'पैसा !' और वह हँसा। 'वह है ही कहाँ ?'

'फिर ?'

'ऊपर से छीका जो टूट गया ! पैसा ऐसे सिर पर आ गिरा तो मैं क्या करता ? सोचा, घूमूँगा और सबसे मिलूँगा।'

'छीका ऐसा क्या टूटा भाई ?'

'अरे पिता मर गये और एक मकान छोड़ गए। मुझे उसमें रहना कब था। बेचबाच कर अलग किया और चला आया। अब सालभर सिर्फ घूमूँगा।'

'फिर ?'

'फिर क्या ?'

'लौटकर क्या करोगे ? लिखकर कमाओगे ? ऐसे हो जाती है कमाई ?'

'नहीं होती, बिलकुल नहीं होती। पर चित्रकारी से तो भी लिखना अच्छा है। लिखूँगा और ऊपर से कोई काम ले लूँगा।'

'बस, इतनी ही अभिलाषा है ?'

'अभिलाषा नहीं ··· मिसटिक लोग मुझे प्रिय लगते हैं जो बस निष्काम होते हैं।'

तो बातें हुईं, इधर की और उधर की। वह पैदल चलता था। सस्ती से सस्ती सवारी में बैठता था। बम्बई भेंडी बाजार में रह चुका था। कहता था, वहाँ कोई मेरी अंग्रेजी नहीं जानता था, मैं हिन्दी नहीं जानता था। लेकिन दिक्कत कोई नहीं हुई। भाषा बीच में समान न होने से ज़िन्दगी मज़ेदार और आसान होने में बल्कि और सहायता हुई।

सभी बातें हुईं। प्रेम की, पैसे की, काम की। हरियालापन इन तीस वर्षों में उसमें तनिक न सूखा था। और वह मेरे पास से गया तो ऐसे सरक कर गया कि जैसे सब कहीं उसे ठौर हो और हर कोई उसे अपना हो।

और जाने पर मुझे लगा कि अगर आदमी है और अपने चित्त को लेकर युक्त है तो राष्ट्रवाद और उन राष्ट्रों का सीमावाद और अहंवाद भी अंततः उसके भविष्य को बिगाड़ नहीं सकेगा। प्रेम है वहाँ भविष्य सुरक्षित है।

जून, १९६०.

ऐतिहासिक और अनैतिहासिक

भारतीय चिन्तन ने उस दृष्टि को महत्व नहीं दिया। दृष्टि उसकी एहिक की जगह नैतिक रही। काल की गिनती ने उसे विशेष नहीं अटकाया। उसका ध्यान उस मूल नीति, अर्थात् धर्मनीति की खोज में रहा जिसमें से घटनाओं की सृष्टि और उनका समाहार है।

अभी एक विद्वान बंधु इतिहास का महत्व बतला रहे थे। उस सिलसिले में कुछ दिन पहले पढ़ी एक खबर की सहसा ही मुझे याद आगई है। खबर शायद लाहौर की थी। लिखा था कि इतिहास की अमुक पाठ्यपुस्तक बदली जायगी। कारण, उसमें बताये गये भारत के इतिहास में गांधी और नेहरू को जिन्ना साहब से अधिक स्थान मिला था।

उससे पहले ऐसी ही खबर रूस से मिली थी। तब तक वहाँ का इतिहास स्टालिन से भरपूर था। उसके बाद शायद वह उस इतिहास में छोटी काली बिन्दी के मानिन्द बन रहनेवाले थे। सुनते हैं, हर कुछ वर्ष बाद वहाँ इतिहास की नई मरम्मत हुआ करती है।

तो इतिहास का यह हाल है।

आरोप है कि भारत इतिहास को नहीं जानता था। यह तो अब सभ्यता ने पश्चिम की ओर से आकर उसे इतिहास का महत्व सिखाया है। क्या था पहले? पुराण थे, किंवदन्तियाँ और कथा-कहानियाँ थीं। उसमें से यथार्थता को ढूँढ़ा नहीं जा सकता था। तथ्य के साथ कल्पना ऐसी मिला डाली गई थी कि वह सब कुछ एक भाव-पिण्ड के मानिन्द हो जाता था। इति वृत्त की कोई क्रम शृंखला ही नहीं मिल पाती थी। इस तरह उसके पास विधानपुष्ट कोई राष्ट्रीयता भी न थी। भावना की कुहेलिका में रहनेवाला

यह देश था। इसीसे पराधीन बनता चला गया। स्वाधीनता की देन उनके भाग्य में नई है और पश्चिम की उदारता में से वह प्राप्त हुई है।

और इस आरोप के समर्थन में कही-जानेवाली ऐतिहासिक-दृष्टि को बढ़-चढ़कर-महत्व दिया जाता है। मानो सब ज्ञान का समर्थन इतिहास में हो। दलील इतिहास में खोजी जाती है और हर नवीनता के लिये पुष्टि इतिहास से निकालकर दी जाती है। जैसे इतिहास में सबका कारण है और कार्य का निश्चय वहीं से होगा। इस कारणकार्य के आधार पर बननेवाली नीति को परिपुष्ट नीति कहा जायगा। यही है ऐतिहासिक नीति।

लेकिन हमने देखा कि पिछली बीती को इतिहास का स्वरूप हम यहाँ वर्त्तमान में बैठकर योजनानुसार दिया करते है। इतिहास को गढ़ा जाता है। अमुक आशय उसमें पहले डाला जाता और फिर वहां से निकाला जाता है। आगे हम क्या चाहते हैं, उस इच्छा के अनुरूप पीछे अबतक क्या होता रहा है इसको जमा-बिठाकर पेश किया जाता है। इतिहास घटनाओं का क्रममात्र नहीं है। उन घटनाओं को अपनी ओर से देकर जिस अर्थ की लड़ी में पिरोया जाता है, वह इतिहास है। उसमें से फिर एक ऐहिक दर्शन और कार्यक्रम निकल आता है।

बेशक भारतीय चिन्तन ने उस दृष्टि को महत्व नहीं दिया। दृष्टि उसकी ऐहिक की जगह नैतिक रही। इस तरह उसके मनन के लिये घटनात्मक इतिवृत्त सामग्री से अधिक नहीं हो सका। कालानुक्रम ने उसे विशेष नहीं अटकाया। उसका ध्यान उस मूल नीति अर्थात् धर्मनीति की खोज में रहा जिसमें से घटनाओं की सृष्टि है और उनका समाहार है।

इस अनैतिहासिक दृष्टि का परिणाम भारत के हित में अशुभ नहीं हुआ। घटनाएँ बड़ी बनकर उसके मन पर नहीं बैठ सकीं। घटनाओं की भूमिका पर उठने और गिरनेवाले छत्रपति और सम्राट उसकी याद को छा नहीं सके। उनके घटाटोप का आतंक

भारतीय हृदय को आकुल नहीं कर सका। इतिवृत्त की दृष्टि से नगण्य माने जा सकनेवाले सत्पुरुष भी इस कारण उसके अंतःकरण में गहरे उतर सके। भारतीय चेतना नैतिक मूल्यों से प्रभावित और गठित रहती चली गई है। यह नहीं कि उसके लौकिक जीवन में विग्रह और युद्ध के दृश्य उपस्थित नहीं हुए। वह सब यहाँ भी होता रहा, लेकिन इस सब कलह कोलाहल से उसकी अन्तश्चेतना क्षुब्ध नहीं हो पाई। उसकी निष्ठा अक्षुण्ण रहीं। और देश यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से बराबर कटाफटा रहा, पर उसके नीचे देश की सांस्कृतिक सत्ता संयुक्त और समन्वित रही चली गई।

इसके दो चमत्कारी परिणाम हुए। भरत-खंड अखण्ड और अविच्छिन्न रहा। उसकी संस्कृति की कड़ी बीच से कभी टूटी नहीं। उसकी रचना सम्राट पर और युद्ध पर निर्भर नहीं रही और भारत कभी साम्राज्यवादी नहीं हुआ। कभी कहीं उसने चढ़ाई नहीं की।

दुनिया में आज भारत ही वह देश है जिसके पास संस्कृति की अजस्र परम्परा है। अन्यान्य संस्कृतियाँ चढ़ीं और गिरीं, फिर वह मिट भी गईं। भारत के साथ ऐसा नहीं हुआ।

क्यों? उत्तर एक ही है। वह यह कि जिस दृष्टि और नीति के अधीन भारत का जीवन रहा और पनपा वह अनैतिहासिक थी, धर्म-नैतिक थी।

यह ऊपरी निगाह से ही त्रुटि मानी जा सकती है। गहराई से देखेंगे तो यह विशेषता विश्व संस्कृति के लिये भारत का मौलिक अवदान सिद्ध होने योग्य है।

भारत के पास रामायण और महाभारत हैं। मानना चाहिये कि यह दोनों ही महाकाव्य इतिहास में कभी हुए दो युद्धों के चारों ओर गूँथे गए हैं। लेकिन यह काव्यग्रन्थ अनायास धर्मग्रन्थ बन गए हैं। क्योंकि ऐतिह्य वहाँ मुख्य नहीं है, वह सर्वथा उपादान बन सका है। वहाँ मनुष्य के साथ देव-दानव, राक्षस, वानर भी

मिल गए हैं। इस तरह वे महाकाव्य युग के या युद्ध के चित्र नहीं बल्कि शाश्वत मानसिक अन्तरविग्रह के रूपक बन गए हैं। उनसे परिचय से अधिक प्रकाश मिलता है, बोध से अधिक स्फूर्ति प्राप्त होती है। राम और कृष्ण वहाँ सेनानायक नहीं हैं, अवतार हैं। भीष्म द्रोण, कर्ण, अर्जुन, हनुमान, विभीषण आदि भी अपने कारनामों के कारण मन में जगह नहीं घेरते हैं; बल्कि अपनी अन्तरंगता के कारण वहाँ गहरे उतरते हैं। उस दृष्टि से भारत ने कुछ खोया नहीं है, पाया ही है। उसको मूर्त्त आदर्श प्राप्त रहे हैं और जन-मानस का वे सम्यक नियोजन करते रहे हैं। यहाँ के लोकमानस की प्रेरणा उस कारण धर्ममूलक बनी रही है और इसी कारण सम्मिलित रूप से किसी प्रचण्ड राष्ट्रीय हुँकार में उसे नियोजित नहीं किया जा सका है।

आज जो दुनिया का कारबार चल रहा है उसमें ऐतिहासिक और राजनीतिक दृष्टि प्रधान है। उसको बौद्धिक और वैज्ञानिक भी माना जाता है। राजशास्त्र, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र यहाँ तक कि नीतिशास्त्र भी आज का उससे परिभाषा पाता है। विज्ञान ने उस दृष्टि को और पुष्ट कर दिया है। उत्पादन के, आवागमन और यातायात के साधन ऐसे बन गये हैं कि उनके योग पूर्वक इस दृष्टि से चलकर कुछ चतुर और बुद्धिशाली लोग शक्ति और सफलता के शीर्ष पर जा पहुँचते हैं। विज्ञान ने यही सम्भव नहीं कर दिया है कि यहां बटन दबाने से वहाँ महा-भीम यंत्र अपना खेल दिखाने लग जाय, सम्भव यह भी हो गया है कि ऊपर आसन पर बैठे एक आदमी के भँवों में सिकुड़न आने से अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सहसा ही तनाव और संकट पैदा हो जाय।

इतिहास जब स्वयं प्रतिष्ठ बनता है तो उसमें से शक्ति को ही नीति मानना पड़ता है। यदि शक्ति ही निर्णायक नीति हो तो युद्ध-परीक्षा के सिवाय अन्तिम फैसले के लिये दूसरी कोई कसौटी नहीं रह जाती। और वही हो रहा है। अणुशस्त्र उसी होड़ के परिणाम और प्रमाण हैं। लेकिन यह भी पता चल गया है कि

शक्ति द्वारा निर्णय की कसौटी कभी खरी साबित नहीं हो पाई। अब तो वह साफ ही झूठी हो गई है। क्योंकि अणु-स्फोट के युद्ध में जीत या हार का कोई पक्ष रहनेवाला नहीं है, सबका सफाया हो जाने-वाला है।

ठीक इस जगह ऐतिहासिक और राजनैतिक से कोई ऊँची दृष्टि चाहिये जो काम दे सके। मेरी नम्र पर दृढ़ मान्यता है कि भारत की परम्परा में जिस दृष्टि का व्यापक सामाजिक प्रयोग हुआ है, उसमें वह सम्भावना हैं। वह अनैतिहासिक है, नैतिक है। कोरी भावात्मक रहकर यदि वह किसी ओर से निर्बल दीखती भी हो तो आवश्यक बौद्धिकता और वैज्ञानिकता डालकर इसे युगानुकूल बनाया जा सकता है। पर इसमें तो संदेह ही नहीं है कि तथा मान्य ऐतिहासिक दृष्टि से भारतमान्य अनैतिहासिक धार्मिक दृष्टि कहीं निरापद है।*

मार्च, १९६०.

---

*भारतमान्य से आशय आज की कांग्रेस और सरकार द्वारा मान्य दष्टि का न लिया जाय।

....

स्त्री-पुरुष के बीच आकर्षण तो है. वह वैज्ञानिक तथ्य है. आप उससे नाराज हो और लड़े, या प्रसन्न हो और सराहें, यह आपके वश की बात नहीं है कि उसे मिटा दें. फिर, ब्रह्मत्व को साधने वाली ब्रह्म की चर्या क्या है ?

• • •

साधु यदि अलग है और गृहस्थ अलग, त्याग एक के लिए है और भोग दूसरे के लिए. एक के लिए आध्यात्म और दूसरे के लिए पदार्थ, तो संयम की वह तीखी रेखा जो ऐसी फांक बीच में डालती हैं, जीवन की चौमुखी सम्पन्नता में बाधा भी बन सकती है.

• • •

मृत्यु जैसे काल का कराल आघात है. वह आघात विकराल है. उसकी क्रूरता दुर्दान्त और दारुण है. इसलिए नहीं कि यमराज का रूप ही वैसा है, बल्कि इसलिए कि वह हमारे ही भय का रूप है—कल्पना की विकृति है. वस्तुतः विधाता की ओर से यह जो यमराज है वही तो धर्मराज है.

• • •

इन्जील ने कहा, क्रास. गीता ने कहा, यज्ञ. कुरान ने कहा, कुरबानी. तो क्या यही जीवन का अर्थ है ? सार है ? लक्ष्य है ?

• • •

क्यों है कि धर्म सम्प्रदाय रचता और उसी में घिरा रहता है ? क्यों वह दलदल में दीखता है और उससे उबर नहीं पाता ? क्यों है कि वह राजनीति का बस दास है और उसको दिशा नहीं दे सकता ?······कारण इसके सिवा क्या हो सकता है कि बाहर की ओर से बचने के लिए लोग धर्म में शरण लेते हैं और वहां अपनी निर्बलता को पोषण देते रहने में रस लेते हैं.

• • •

"धर्म और क्या है ? यह अवतार और पैगम्बर और मसीह क्या है ? व्यर्थताएं हैं जिनको अपने बीच हमने खड़ा कर लिया है कि कुछ उनके सहारे प्रभु बनें, दूसरे दास बने रहें."

• • •

त्याग का उपदेश कैसे फल ला सकता है, जबकि त्याग फल है भीतर की विवशता का. फल पकने पर डाल पर रहे तो कैसे रहे ? पानी भरे बादल में से गिरे नहीं तो वहां थमे कैसे ? मन भरता है तो आँसू में ढरता है. त्याग अतः भराव में से न आये यह हो नहीं सकता.

'इतस्ततः' से